महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
(A Central University Established by Parliament by Act No.3 of 1997)

एमएसडब्ल्यू पाठ्यक्रम (80 क्रेडिट)
प्रथम सेमेस्टर

दूर शिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
पोस्ट - हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा - 442001 (महाराष्ट्र)

मार्ग निर्देशन समिति

प्रो. गिरीश्वर मिश्र
कुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. आनंद वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. अरबिंद कुमार झा
निदेशक (दूर शिक्षा निदेशालय)
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

पाठ्यचर्या निर्माण समिति

प्रो. मनोज कुमार
निदेशक – म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. मिथिलेश कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर , म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. शिवसिंह बघेल
असिस्टेंट प्रोफेसर , म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

श्री अमोद गुर्जर
असिस्टेंट प्रोफेसर , म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. शंभू जोशी
असिस्टेंट प्रोफेसर एवं पाठ्यक्रम संयोजक, दूर शिक्षा निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

संपादन मंडल

प्रो. मनोज कुमार
निदेशक – म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. मिथिलेश कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर
म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. शंभू जोशी
असिस्टेंट प्रोफेसर एवं पाठ्यक्रम संयोजक
दूर शिक्षा निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

इकाई लेखन

खंड-1
श्री शिवाजी जोगदंड

खंड- 2
श्री अनुराग कुमार पाण्डेय

खंड– 3
इकाई 1 व 2 श्री साजन भारती
इकाई 3 श्री अनुराग कुमार पाण्डेय

खंड-4
श्री अनुराग कुमार पाण्डेय

कार्यालयीन एवं संपादकीय सहयोग

श्री विनोद वैद्य
अनुभाग अधिकारी, दू.शि. निदेशालय

सुश्री शिल्पा एवं श्री प्रवेश कुमार
सहायक, दू.शि. निदेशालय

श्री हरीश चंद्र शाह
तकनीकी सहायक, दू.शि. निदेशालय

श्री महेन्द्र प्रसाद
संपादकीय सहायक, दू.शि. निदेशालय

सुश्री मेघा आचार्य
प्रूफ रीडर, दू.शि. निदेशालय

सुश्री राधा
टंकक, दू.शि. निदेशालय

आवरण पृष्ठ
सुश्री मेघा आचार्य

अनुक्रम

क्र.सं.	खंड का नाम	पृष्ठ संख्या
1	**खंड - 1 – सामाजिक समस्या की अवधारणा**	3
	इकाई - 1 सामाजिक समस्या : परिचय	4-22
	इकाई - 2 सामाजिक समस्या के कारण एवं प्रकार	23-39
	इकाई - 3 सामाजिक समस्या के प्रभाव	40-48
2	**खंड - 2 – सामाजिक परिदृश्य**	49
	इकाई - 1 निर्धनता और बेरोज़गारी	50-59
	इकाई - 2 भ्रष्टाचार	60-65
	इकाई - 3 पितृसत्ता	66-74
	इकाई - 4 सांप्रदायिकता एवं अस्मिता विमर्श	75-81
3	**खंड - 3 – राजनीतिक परिदृश्य**	82
	इकाई - 1 क्षेत्रीयता	83-90
	इकाई - 2 आतंकवाद	91-99
	इकाई - 3 नक्सलवाद	100-107
4	**खंड - 4 – समाज सुधार आंदोलन**	108
	इकाई - 1 समाज सुधार आंदोलन (स्वतंत्रता पूर्व)	109-115
	इकाई - 2 समाज सुधार आंदोलन (स्वतंत्रता पश्चात)	116-125
	इकाई - 3 नव सामाजिक आंदोलन	126-135
	इकाई - 4 समसामयिक परिप्रेक्ष्य	136-141

MSW 05 भारतीय सामाजिक समस्याएं

खंड परिचय

प्रिय विद्यार्थियों,

एमएसडब्ल्यू पाठ्यक्रम (प्रथम सत्र) के प्रश्नपत्र **MSW 05 भारतीय सामाजिक समस्याएं** में आपका स्वागत है। इस प्रश्नपत्र को चार खंडों में विभाजित किया गया है।

पहले खंड में सामाजिक समस्याओं की अवधारणा पर प्रकाश डाला गया है। सामाजिक समस्याकिसे कहा जाता है, इसके कितने प्रकार और कारण हैं तथा इसके क्या प्रभाव होते हैं, इन सभी बातों की चर्चा इस खंड में की गई है।

दूसरे खंडमें सामाजिक परिदृश्य से जुड़ी विभिन्न समस्याओं को रेखांकित कियागया है जो भारतीय समाज में व्याप्त हैं । इनमें निर्धनता और बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार,पितृसत्ता तथा सांप्रदायिकता एवं अस्मिता विमर्श पर प्रकाश डाला गया है।

तीसरे खंड में राजनीतिक परिदृश्य के अंतर्गत उन समस्याओं को रखा गया है जो राजनीतिक स्तर पर भारतीय राज्य के सम्मुख उपस्थित हैं। इनमें क्षेत्रीयता, आतंकवाद और नक्सलवाद को शामिल किया गया है।

चौथे खंड में समाज सुधार आंदोलनों का उल्लेख किया गया है। इसमें आज़ादी से पहले और बाद के आंदोलनों का वर्णन किया गया है। नव सामाजिक आंदोलनों की अवधारणा को बताते हुए विभिन्न नव सामाजिक आंदोलनों का उल्लेख किया गया है। साथ ही समसामयिक परिप्रेक्ष्य पर भी प्रकाश डाला गया है।

खंड - 1

सामाजिक समस्या की अवधारणा

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई: 1 सामाजिक समस्या: परिचय

इकाई की रुपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 सामाजिक समस्या की अवधारणा
1.3 सामाजिक समस्याओं की विशेषताएं
1.4 सामाजिक समस्या की उत्पत्ति
1.5 सामाजिक समस्याओं के अध्ययन की पद्धतियाँ
1.6 सामाजिक समस्याओं का मापन
1.7 सामाजिक समस्याओं के सैद्धांतिक उपागम
1.8 सारांश
1.9 बोध प्रश्न
1.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप -

- सामाजिक समस्याओं की व्याख्या कर पाएँ।
- सामाजिक समस्याओं कीविशेषताओं को रेखांकित कर पाएँगे।
- सामाजिक समस्याओं के सैद्धांतिक उपागम का विवरण दे सकेंगे।
- सामाजिक समस्याओं की अध्ययन पद्धति को समझ कर सामाजिक समस्याओं कीपहचान कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

मानव समाज में संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक भिन्नताएँ पाई जाती है परंतु भिन्न-भिन्न समाजों में इनका स्वरूप, प्रकृति एवं गहनता अलग-अलग होती हैं। सामाजिक समस्याओं का संबंध विद्यमान गत्यात्मक एवं परिवर्तन विषय से संबद्ध रहा है, जो समाज जितना अधिक गत्यात्मक एवं परिवर्तनशील होगा, उसमें उतनी ही अधिक समस्याएं विद्यमान होगी। समाज का ताना-बाना इतना जटिल है कि इसकी एक इकाई में होने वाला परिवर्तन अन्य इकाईयों को भी प्रभावित करता है। इस परिवर्तन का स्वरूप क्या होगा एवं इसके प्रभाव क्या होंगे, यह समाज की प्रकृति पर निर्भर करता है। विभिन्न युगों में सामाजिक

परिवर्तन की गति अलग-अलग रही है। इसलिए भिन्न-भिन्न समाजों में सामाजिक समस्याओं की प्रकृति एवं स्वरूप भी अलग-अलग पाए जाते हैं। वर्तमान समय में सामाजिक परिवर्तन अत्यन्त तीव्र गति से हो रहा है। इस तरह बदलते आधुनिक समाज के स्वरूप ने सामाजिक समस्याओं में बेतहाशा वृद्धि की है। मानव समाज इन सामाजिक समस्याओं का उन्मूलन करने के लिए सदैव प्रयासरत रहा है क्योंकि सामाजिक समस्याएँ सामाजिक व्यवस्था में विघटन पैदा करती हैं, जिससे समाज के अस्तित्व को खतरा पैदा हो जाता है।

वर्तमान समय में भारत में अनेक सामाजिक समस्याएँ हैं। यद्यपि भारतवर्ष एक स्वतंत्र गणराज्य है जिसने पंथनिरपेक्षता, प्रजातंत्र तथा आर्थिक समानता के प्रगतिशील मूल्यों को स्वीकार किया है परंतु यहाँ निर्धनता पाई जाती है, गरीब-अमीर के बीच एक बहुत बड़ी खाई दिखाई पड़ती है। यहाँ धर्म, भाषा, प्रजाति, जाति तथा क्षेत्रीयता के आधार पर अनेक भेदभाव पाए जाते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति में सामाजिक और आर्थिक आधार पर ऊँच-नीच का एक संस्तरण पाया जाता है। जातिवाद, अस्पृश्यता, भाषावाद, प्रांतीयता, सांप्रदायिकता, युवा असंतोष तथा बेकारी आदि समस्याएँ यहाँ मौजूद हैं। यहाँ बालऔर प्रौढ़-अपराधी भी पाए जाते हैं, जो समाज के सम्मुख समस्या उत्पन्न करते हैं। यहाँ जनसंख्या की बढ़ोतरी भी तेज़ी के साथ हो रही है। निरक्षरता, निम्न जीवन स्तर, शराबखोरी, जुआ, वेश्यावृति और महिला व बाल-शोषण,किसान आत्महत्या, दलितों पर अत्याचार, राजनीतिक एवं प्रशासनिक भ्रष्टाचार की समस्याओं का भी देशवासियों को सामना करना पड़ रहा है। साथ ही औद्योगीकरण एवं नगरीकरण से संबंधित समस्याएँ भी गंभीर रूप धारण करती जा रही हैं। इन सामाजिक समस्याओं की प्रकृति क्या है इसका विश्लेषण हो और इन्हें समझा जाए। साथ ही समाज वैज्ञानिक इन समस्याओं के आंकलन के लिए एक सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य का उपयोग करने के प्रयास करें। यह भी आवश्यक है कि विद्यमान उप-व्यवस्थाओं, संरचनाओं, संस्थाओं और कानूनों को नियंत्रित करने के लिए आयोजक और सत्तारूढ़अभिजन उपयुक्त उपचारात्मक उपायों द्वारा उन्हें दोषरहित व सुप्रवाहित करने के बारे में विचार कर सके।

कोई भी समस्या व्यक्तिगत नहीं है, किंतु जनसाधारण को सामान्य रूप से प्रभावित करती हैं। व्यक्तिगत समस्या वह है, जो एक व्यक्ति या एक समूह को प्रभावित करती है। उसकासमाधान उस व्यक्ति या समूह के निकटतम वातावरण में होता है। इसके विपरीत जन-विषय (Public issue) वह है, जिसका पूरे समाज पर या समाज की बड़ी संख्या पर प्रभाव पड़ता है।एक कार्यकर्ता को यह जानना आवश्यक होता है कि समाज की संरचनाओं के कार्यनिर्वाह में ये समस्याएँ किस प्रकार उत्पन्न होती हैं। सामाजिक कार्यकर्ता, समाज में आपसी संबंधों के विभिन्न संस्थों की कार्यप्रणाली का तथा लोगों पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है, का अध्ययन करता है। वह इन समस्याओं के समाधान के लिए यह देखता है कि सामाजिक संरचनाओं का किस प्रकार पुनर्गठन होसकता है एवं सामाजिक व्यवस्थाओं की किस प्रकार पुनःसंरचना हो सकती है। सिद्धांत को प्रयोग से जोड़ने के फलस्वरूप समस्या के समाधान के लिए एक

वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य मिल जाता है। इसलिए कार्यकर्ता को सामाजिक समस्या की अवधारणा से परिचित होना आवश्यक होता है।

1.2 सामाजिक समस्या की अवधारणा (The Concept of Social Problem)

सामाजिक समस्या को **वाल्श और फरफे** (1961) ने *"सामाजिक आदर्श का विचलन माना गया है, जो सामूहिक प्रयत्न से ही ठीक हो सकता है।"* इस परिभाषा में दो तत्व महत्वपूर्ण है- प्रथम स्थिति जो आदर्श से कम है, यानि जो असाधारण है और द्वितीय, जो सामूहिक प्रयत्न से ठीक हो सकती है।यद्यपि इसका निर्धारण करना सरल नहीं है कि कौन-सी स्थिति आदर्श है और कौन-सी नहीं और ऐसा कोई मानदंड नहीं और ऐसा कोई मापदंड भी नहीं जिसे इसको जाँचने के लिए प्रयोग में लाया जा सके। 'सामाजिक समस्या' शब्द उसी विषय के लिए उपयोग किया जाता है, जिसे सामाजिक आचार-शास्त्र (जो सामूहिक संबंधों में आचारव्यवहार को सही और गलत बतलाता है) और समाज (जो सार्वजनिक कल्याण को प्रोत्साहित करता है और सार्वजनिक व्यवस्था को बनाए रखता है) प्रतिकूल समझते हैं।

डब्ल्यू. वेलेस वीवर अपनी किताब *सोशल प्रॉब्लम* में लिखते हैं कि *"सामाजिक समस्या एक दशा है, जो चिंता, तनाव, संघर्ष या नैराश्य उत्पन्न करती है और आवश्यकता की पूर्ति में बाधा डालती है"*। सामाजिक समस्या उद्वेगात्मक अथवा मानसिक व्याकुलता के लिए उत्तरदायी है। चिंता, समस्या में गतिशील तत्व के रूप में पाई जाती है। इस समस्या से छुटकारा पाने के लिए परिस्थिति को सामाजिक परिवर्तनों के माध्यम से बदलने की आवश्यकता होती है। सामाजिक समस्याओं के अध्ययन में ध्यान सामाजिक परिस्थितियों पर केंद्रित किया जाता है।

फुलर और मेयर्स(1941) ने इस तरह से परिभाषित किया है कि *"यह वह स्थिति है, जिसे व्यक्तियों की बड़ी संख्या आकांक्षित सामाजिक मानदंडों से विचलन मानती है"*

रेनहार्ट(1952) ने सामाजिक समस्या की यह कहकर व्याख्या की है कि *"यह वह स्थिति है, जिससे समाज का एक खंड या एक बड़ा भाग प्रभावित होता है और जिसके ऐसे हानिकारक परिणाम हो सकते हैं अथवा होते हैं, जिनका सामूहिक रूप से समाधान संभव है।"*

मर्टन और निस्बट(1971) का विचार है कि *"सामाजिक समस्या व्यवहार का एक ऐसा रूप है, जिसे समाज का एक बड़ा भाग व्यापक रूप से स्वीकृत एवं अनुमोदित मानदंडों का उल्लंघन मानता है"* यह परिभाषा मद्यपान, भ्रष्टाचार और सांप्रदायिकता जैसी समस्याओं पर ठीक बैठती है परंतु जनसंख्या विस्फोट जैसी समस्याओं पर नहीं। कुछ समस्याएँ व्यक्तियों के असाधारण और क्षिलित व्यवहार से पैदा नहीं होती, परंतु साधारण और स्वीकृत व्यवहार से होती हैं।

हर्बर्ट ब्लूमर(1971) लिखते हैं कि *सामाजिक समस्याओं में वे कार्य और व्यवहार के स्वरूप आते हैं जिन्हें बड़ी संख्या में लोग समाज के प्रति घातक मानते हैं या सामाजिक प्रतिमानों का उल्लंघन समझते हैं और , जिन्हें सुधारना वे संभव और वांछनीय मानते हैं"*

हार्टन और लेस्ले(1970)का मानना है कि "*सामाजिक समस्या एक स्थिति है, जो व्यक्तियों की एक बड़ी संख्या को ऐसे तरीकों से प्रभावित करती है जो वांछनीय समझे जाते हैं और यह सोचा जाता है कि सामूहिक सामाजिक क्रिया के द्वारा उसके बारे में कुछ किया जा सकता है*" यद्यपि यह परिभाषा इस बात पर बल देती है कि सामाजिक समस्या एक ऐसी स्थिति है 'जो व्यक्तियों की एक बड़ी संख्या' को प्रभावित करती है, परंतु वह व्यक्तियों की सही संख्या बताती है, जो उससे प्रभावित होती हैं। वह केवल संकेत देती है कि इसमें काफ़ी लोग प्रभावित होने चाहिए, जिससे लोगों का ध्यान आकर्षित हो सके तथा लोग उस पर बात करने और लिखना शुरू कर दें।

शेपर्ड तथा वास अपनी किताब *सोशल प्रोब्लम्स* में कहते है कि "*एक सामाजिक समस्या समाज की कोई भी ऐसी सामाजिक दशा है, जिसे समाज के एक बहुत बड़े भाग या शक्तिशाली भाग द्वारा अवांछनीय और ध्यान देने योग्य समझा जाताहै*"।

अतः सामाजिक समस्याओं को उन सामाजिक दशाओं के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो सामाजिक कल्याण के लिए खतरे के रूप में होता है, जिसके प्रति समाज के काफी लोग जागरूक होते हैं और , जिनके निराकरण के लिए सामूहिक रूप से कोई रचनात्मक कार्य या प्रयास करने की आवश्यकता होती है।

फुल्लर अपनी किताब *Some Aspects of a Theory of Social Problem* में कहते हैं कि किसी भी सामाजिक दशा को सामाजिक समस्याओं के रूप में समझने एवं समाधान करने के लिए तीन अवस्थाओं से गुज़रना आवश्यक होता है -

1) लोगों को यह दृढ़ विश्वास हो कि वह परिस्थिति लोगों की मूल्य-व्यवस्था की दृष्टि से अनुचित हैं और उसको हल करने के लिए कुछ करना चाहिए।

2) सामाजिक समस्याओं के अस्तित्व को स्वीकार करने पर उसके निवारण के लिए अनेक सुझावों में से किसी एक को मानकर उसके अनुरूप साधन ढूँढने का प्रयास किया जाता है

3) सामाजिक समस्या के समाधान के लिए साधन ढूँढने के पश्चात उसको कार्यान्वित कर सुधार लेने का प्रयास किया जाता है।

1.3 सामाजिक समस्याओं की विशेषताएं

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम सामाजिक समस्याओं कीनिम्नलिखित विशेषताएँ पहचान सकते हैं:

- ❖ सभी सामाजिक समस्याएं 'आदर्श' स्थिति से विचलन है।
- ❖ सभी सामाजिक समस्याओं की उत्पति का कोई समान आधार होता है।
- ❖ सभी सामाजिक समस्याएँ मूल में सामाजिक हैं।
- ❖ सभी सामाजिक समस्याएँ अंतर्संबंधितहोती है।

- ❖ सभी सामाजिक समस्याओं के परिणाम सामाजिकहोते है अर्थात वे समाज के सभी खंडों पर प्रभाव डालती है।
- ❖ सामाजिक समस्याओं का दायित्व सामाजिक है तथा उनके निवारण के लिए एक सामूहिक उपागम की आवश्यकता होती है।

राम आहूजा (2016) ने अपनी किताब ***सामाजिक समस्याएँ*** में कहते हैं कि सामाजिक समस्याओं के प्रति विभिन्न प्रतिक्रियाएँ होती हैं। इन्हें वे चार रूपों में विश्लेषित करते हैं। वे चार कारक निम्नलिखित हैं-

उदासीनता का रुख: कुछ लोग किसी समस्या के प्रति यह सोचकर उदासीन रहते हैं कि उनको वह प्रभावित नहीं करती है। कभी-कभी पारिवारिक तनाव और नौकरी के दबाव जैसी उनकी अपनी समस्याएँ उन्हें इतना व्यस्त रखती हैं कि दूसरों कोप्रभावित करने वाली बातों में रुचि लेने के लिए उनके पास समय ही नहीं होता। वे उसी समय उत्तेजित होते हैं और समस्या में रुचि लेना प्रारंभ करतेहैं, जब उनका स्वार्थ होता हैं।

भाग्यवाद: कई व्यक्ति भाग्यवाद में इतना विश्वास रखते हैं कि वे अपने साथ जो होता है उसके लिए भाग्य को उत्तरदायी मानते है। गरीबी और बेरोज़गारी जैसी समस्याओं को वेदुर्भाग्य और पूर्व जन्म के कार्यों का फल मानते हैं। इसलिए वे दुर्भाग्य को चुपचाप सहते रहते है और किसीप्रकार का चमत्कार अपने साथ होने की प्रतीक्षा करते रहते हैं।

निहित स्वार्थ: कई लोग विद्यमान समस्याओं में इसलिए रुचि नहीं दिखाते क्योंकि इनके रहते उनके स्वार्थ सिद्ध होते हैं। वे अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर समस्या को हल से परे बताते हैं और उसके निवारण के लिए प्रयत्न करने को समस्या का अपव्यय कहते हैं।

विशेष ज्ञान का अभाव: कुछ व्यक्ति समस्या के प्रति चिंतित होते हुए भी उसमें यह सोच कर रुचि नहीं लेते कि जब तक लोग अपनी मनोवृत्ति और मूल्यों को नहीं बदलते, तब तक उसका समाधान असंभव है। किसी भी परिवर्तन से पहले दृष्टिकोण में परिवर्तन होना आवश्यक है, वे उस समस्या के हल की वैकल्पिक संभावनाओं कोढूँढ़ने के प्रति उदासीन रहते हैं। दहेज प्रथा हमारे समाज की ऐसी समस्या है।

कुछ लोगों में सामाजिक समस्याओं के बारे में गलत, अविश्वसनीय और सतही ज्ञान या भ्रामक धारणाएँ होती है। राम आहूजा (296) ने ऐसी आठ प्रकार की मानवीय भावनाओं की बात की है, जो निम्नलिखित हैं-

1) यह सोचना गलत है कि सामाजिक समस्याओं केस्वरूप के बारे में सभी लोगों में सहमति है। उदाहरणार्थ, कुछ लोग सोचते हैं कि मादक द्रव्यों का सेवन भारत की एक सामाजिक समस्या है, जबकि कुछ और लोग कहते हैं कि यह सामाजिक समस्या नहीं मानी जा सकती, क्योंकि देश के विभिन्न भागों में किए गए आनुभाविक अध्ययन बताते हैं कि मादक द्रव्यों का सेवन बहुत कम है। इसी प्रकार भारत में स्वतंत्रता के बाद अस्पृश्यता से की मुक्ति के लिए किए गए उपायों के

कारण कुछ व्यक्ति अस्पृश्यता को अब सामाजिक समस्या नहीं मानते है। जबकि दूसरों की दृष्टि में अभी भी यह सामाजिक समस्या है। इस प्रकार कुछ समस्याओं की विद्यमानता पर पूर्ण सहमति हो सकती है, जबकि दूसरों परबिल्कुल नहीं।

2) यह सोचना भ्रामक है कि सामाजिक समस्याएँ प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होती है और वे अपरिहार्य है। वास्तव में कोई सामाजिक समस्या आदमी के नियंत्रण से परे नहीं हैं। आवश्यकता केवल यह है किन्हीं विशेष सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन कर दिया जाए।

3) यह विश्वास मिथ्या है कि सामाजिक समस्या मतलबी, अमानवीय, शोषण करने वाले एवं उदासीन व्यक्ति पैदा करते हैं या ये कुछ व्यक्तियों की जानबूझकर की गई दुष्टता का परिणाम है। वास्तव में कई समस्याएँ अच्छे व्यक्ति पैदा करते हैं, क्योंकि या तो वे अपने ही कार्यों में व्यस्त रहते हैं या वे कुछ विशेष विषयों के प्रति उदासीन अथवा कठोर हृदय हो जाते हैं। उदाहरण के लिए गंदी बस्तियों का निर्माण अमीर व्यक्तियों और राजनीतिज्ञों की कठोरता व निर्दयता के कारण होता है। जबकि यह माना जाता है कि गंदी बस्तियाँ पारिवारिक विघटन का बढावा देती है और कुछ प्रकार के अपराधों को बढ़ाती है। तथापि इनकी उदासीनता, चिंता, और व्यवहार के पीछे कोई 'बुरा उददेश्य' नहीं होता। यह कहा जा सकता है कि सामाजिक समस्या कुछ सामाजिक परिपाटियों, कार्य प्रणालियों व प्रथाओं की उपज है न कि कुछ व्यक्तियों की जानबूझकर की गई दुष्टता।

4) यह सोचना गलत है कि सामाजिक समस्याएं उनके विषय में बात करने से पैदा होती है। समस्याएँ इस कारण से उत्पन्न नहीं होती कि उनके बारे में व्यक्ति अनुत्तरदायी ढंग से बात करते हैं और इस प्रकार दूसरोंको उत्तेजित करते हैं या अशांति उत्पन्न करते हैं, या घृणा की भावना जागृत करते हैं आदि। वास्तव में व्यक्तियों को प्रायः समस्याओं के समाधान के लिए या उन कारकों केविरुद्ध, जो उन्हें जीवित रखते हैं, कार्यवाही करने के लिए सक्रिय किया जाता है।

5) सभी लोग सामाजिक समस्याओं के समाधानके पक्षधर होते हैं, यह मानना गलत है। जैसे रूढ़िवादी ब्राह्मण कदाचित अस्पृश्यता की समस्या पर वाद-विवाद करने में कोई रुचि नहीं लेते, या कोई अनुसूचित जातियों, जनजातियों और दूसरी पिछड़ी जातियोंया वर्गों के सदस्य 'पिछड़े' रहना इसीलिए पसंद करते हैं, जिससे उन्हें आरक्षण के लाभ मिलते रहे या कई पूंजीवादी संपूर्ण रोज़गार के इस कारण पक्षधर नहीं होते कि उन्हें कम वेतन पर पर्याप्त संख्या में श्रमिक उपलब्ध नहीं होगें, या कई मकान-मालिक आदि अधिक भवनों के निर्माण में इसीलिए रुचि नहीं लेते कि उससे किराए कम हो जाएगें, या एक कमरे वाले भवनों के मालिक अपने निहित स्वार्थो के कारण गंदी बस्तियों को हटाए जाने में रुचि नहीं दिखाते। इसी प्रकार निहित स्वार्थों के कारण सामाजिक समस्याओं के निदान में रुचि नहीं रखने वाले व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक हो सकती है।

6) यह भावना सही नहीं है कि सामाजिक समस्याएँ स्वयं ही अपना निवारण कर लेगी। इस युग में यह मानना कि समय अपने आप सारी समस्याओं का समाधान कर देगा कल्पित, अयथार्थ और अवास्तविक है। यह अकर्मण्यता को केवल भ्रामक रूप से तार्किक बनाना है। वास्तव में यह भावना निर्धनता, प्रदूषण और जनसंख्या जैसी समस्याओं को अधिक विकराल बना सकती है।

7) यह भावना भ्रामक है कि तथ्यों के उजागर करने मात्र से ही समस्या का समाधान हो जाएगा। यद्यपि यह सच है कि पूरे तथ्यों को एकत्रित किए बिना कोई भी समस्या बुद्धिमत्ता से नहीं समझी जा सकती है, परंतु यह भी सच है कि एकत्रित आंकड़ों की वैज्ञानिक व्याख्या के अभाव में समस्या के समाधान के लिए कोई भी युक्ति नहीं अपनाई जा सकती है। उदाहरणार्थ- युवकों में मादक द्रव्यों के सेवन की मात्रा व विस्तार पाने के स्रोत और उनका सेवन छोड़ने से उत्पन्न हुए मानसिक विकार के बारे में तथ्यों को केवल मात्र एकत्रित करने से उन पर नियत्रंण करने के उपायों को सुझाने में अधिक सहायता नहीं मिलेगी। सदस्यों की भूमिका और मादक द्रव्यों को नियंत्रित करने में परिवार की भूमिका, जैसे-तथ्यों का विश्लेषण और उनकी अर्थपूर्ण एवं वस्तुनिष्ठ व्याख्या न की जाए।

8) यह सोचना भ्रमपूर्ण व असत्य है कि संस्थागत परिवर्तनों के बिना समस्याओं का समाधान हो सकता है बिना योजना बनाए, बिना संरचना में परिवर्तन किए, बिना समायोजन और अनुकूलन किए या बिना वर्तमान संस्थाओं और प्रथाओं में परिवर्तन किए समस्याओं का समाधान असंभव है। उदा. हम भ्रष्टाचार का तब तक उन्मूलन नहीं कर सकते, जब तक कि लोग अपने मूल्यों और विश्वासों में परिवर्तन नहीं करते, नए कानून नहीं बनते तथा न्यायालय उच्च स्थानों पर कार्यरत भ्रष्ट व्यक्तियों को प्रतिकारी व प्रतिशोधात्मक और निवारण व प्रतिरोधात्मक दंड देकर एक उदाहरण नहीं रखते। इन व्यक्तियों में भ्रष्टाचारी राजनीतिज्ञ भी सम्मिलित हैं। कई बार किसी एक समस्या का समाधान करने से कई और नई समस्याएँ समाधान के लिए उत्पन्न हो जाती हैं। संस्थाओं और मूल्यों में मंदगति से परिवर्तन होने के काण समस्या का समाधान सहज रूप से और शीघ्रता से नहीं होता, बल्कि बहुत समय लेता है। कभी हम कुछ स्थितियों को बदलने में सफल हो जाते हैं, जिससे समस्या का आकार और आवृति कम हो जाती है। भले ही हम अपराध का पूर्णरूप से उन्मूलन नहीं कर पाएं, परंतु समाज में उसकी दर को अवश्य कम कर सकते हैं। इसके लिए हमें लोगों में फैली निराशाओं को कम करना होगा और ऐसे विकल्प प्रदान करने होंगे, जिससे उनकी एक क्षेत्र में विफलता की क्षतिपूर्ति किसी और क्षेत्र में सफलता से हो जाए। पारिवारिक विघटन को निरस्त करना संभव न हो , परंतु परिवार में तनावों को कम करने के लिए उपाय अवश्य खोजे जा सकते हैं। इस प्रकार सारी समस्याओं के समाधान ढूँढना संभव न हो परंतु सामाजिक समस्याओं से होने वाली वैयक्तिक वेदना को कम कर पाना संभव है।

समस्या के आकार को प्रभावित करने वाले कारक

किसी भी समस्या के आकार को प्रभावित करने वाला प्रथम कारक उस परिस्थिति में सम्मिलित व्यक्तियों की संख्या है। उसका द्वितीय कारक समस्या द्वारा उत्पन्न भावना की तीव्रता है। इस भावना को आवेग के नाम से जाना जाता है। निसबेट के अनुसार, जो व्यक्ति या समूह किसी परिस्थिति को एक समस्या के रूप में परिभाषित करते हैं, वे नैतिक रोष अनुभव करते हैं। ये दो कारक परिस्थिति में सम्मिलित व्यक्तियों की संख्या तथा आवेग से अनेक रूपों में पारस्परिक अंत:क्रिया करते हैं। किसी भी परिस्थिति के आकार वाली समस्या के लिए इन दोनों की उपस्थिति आवश्यक है। इन दोनों में से यदि कोई एक कारक पाया जाता है, तो समस्या की सामाजिक प्रकृति महत्वहीन होती है। उदहारण के रूप में, किसी समाज के लाखों- करोड़ों लोग चाहे निर्धनता के शिकार क्यों न हों, लेकिन जब तक वे अपनी इस स्थिति को अनुचित या परिवर्तनीय नहीं समझते हैं, तब तक उनकी निर्धनता एक बड़ी सामाजिक समस्या नहीं है। वर्तमान भारत में प्रजातांत्रिक मूल्यों तथा समाजवादी विचारधारा के प्रसार ने लोगों को निर्धनता के प्रति जागरूक बना दिया है और वे यह अनुभव करने लगे हैंकि निर्धनता का बना रहना अनुचित है और इसे प्रयत्न द्वारा कम अथवा समाप्त किया जा सकता है। यही कारण है कि इसने आजकल बड़े आकार की समस्या का रूप ग्रहण कर लिया है। स्पष्ट है कि एक सामाजिक समस्या का आकार उस समय सबसे अधिक होता है, जब लोग काफ़ी संख्या में तीव्रता से उत्तेजित हो उठते हैं और इसलिए कोई कार्यवाही करने को प्रस्तुत हो जाते हैं।

1.4 सामाजिक समस्या की उत्पत्ति

किसी भी घटना के पीछे कोई-न-कोई कार्य कारण भाव होता है, ठीक उसी प्रकार सामाजिक समस्या की उत्पत्ति अनेक कारणों से होती है। जब सामाजिक संगठन में सामंजस्य समाप्त हो जाता है और समाज द्वारा प्रचलित मूल्यों, आदर्शों व नियमों में अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, तो सामाजिक समस्या जन्म लेती है। जॉन केन के अनुसार, *"जब कभी समाज द्वारा प्रचलित मूल्यों एवं आदर्शों के प्रतिकूल परिस्थितियाँ विकसित हो जाती हैं, तो अनेक प्रकार की समस्याएँ जन्म लेने लगती हैं।"* सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति यद्यपि अनेक कारणों एवं परिस्थितियों के कारण होती है। फिर भी प्रत्येक सामाजिक समस्या के स्वाभाविक एवं प्राकृतिक विकास के चरण होते हैं। इनकी विवेचना और प्रमुख चरण निम्नलिखित हैं-

1. चेतना की स्थिति- सामाजिक समस्या के विकास का प्रथम चरण माना जाता है कि समाज के व्यक्तियों में सामाजिक व्यवस्था एवं सामान्य जीवन को बाधित करने वाली कठिनाइयों के बारे में चेतना है। समाज के अधिकांश सदस्य इन्हें महसूस करने लगते हैं और उनके बारे में सोच विचार शुरू कर देते हैं।

2. कठिनाईयों का स्पष्टीकरण- द्वितीय चरण में कठिनाईयाँ अधिक स्पष्ट हो जाती हैं और सामान्य जनता इनसे असुविधा महसूस करने लगती है। साथ ही इनकी ओर स्पष्ट इशारा किया जाने लगता है।

3. सुधार कार्यक्रमों या लक्ष्यों का निर्धारण- समस्या स्पष्ट हो जाने के पश्चात इसके समाधान के लिए कार्यक्रमों एवं लक्ष्यों के निर्धारण का कार्य तृतीय चरण में होता है।

4. संगठन का विकास- लक्ष्य निर्धारित करने के पश्चात इन्हें पूरा करने के लिए आवश्यक संगठनका विकास किया जाता है तथा आवश्यक साधनों को एकत्र किया जाता है, ताकि सुधार कार्यक्रमों को लागू किया जा सके।

5. सुधार का प्रबंध- सामाजिक समस्याओं के स्वाभाविक समाधान के लिए सुधार कार्यक्रमों को लागू करना तथा अगर आवश्यक हो, तो सामाजिक समस्या निदान के इसके लिए अनिवार्य संस्था का विकास करना है।

रॉबर्ट ए. निस्बेट ने अपनी पुस्तक *Study of Social Problem* में सामाजिक समस्या की उत्पत्ति में चार सहायक कारक बताए हैं-

1. **संस्थाओं में संघर्ष** कई बार अनेक संस्थाओं के उद्देश्यों लक्ष्यों व साधनों में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। प्राचीन एवं नवीन संस्थाओं में यह संघर्ष अधिक पाया जाता,क्योंकि प्राचीन संस्थाएँ व्यवस्था को यथारूप बनाए रखने पर बल देती हैं, जबकि नवीन संस्थाएँ सामाजिक गतिशीलता पर अधिक बल देती हैं।
2. **सामाजिक गतिशीलता-** यह प्रथम कारक से जुड़ा हुआ कारक है। गतिशीलता के कारण व्यक्ति को नवीन परिस्थितियों, मूल्यों आदि से काफ़ी संघर्ष करना पड़ता है और कई बार लोग तंग आकर अवैधानिक, अनैतिक व अस्वीकृत तरीकों द्वारा अपनी प्रस्थिति ऊँचा करने का प्रयास करते हैं।
3. **व्यक्तिवाद-** आज के युग में निरंतर बढ़ता हुआ व्यक्तिवाद भी सामाजिक समस्याओं का कारण है। परंपरागत समाजों में जीवन सामूहिक होता था, परंतु आज व्यक्ति अपने में ही खोता जा रहा है और सामूहिकता समाप्त होती जा रही है। इससे प्राथमिक नियंत्रण शिथिल हो जाता है और व्यक्ति के पथभ्रष्ट होने की संभावना बढ़ जाती है। सामाजिक एकता में कमी हो जाती है, व्यक्तिवाद के कारण व्यक्ति मनचाहा व्यवहार करने लगता है तथा वह समाज के रीति- रिवाजों की चिंता नहीं करता।
4. **व्याधिकीय स्थिति-** व्याधिकीय स्थिति भी सामाजिक समस्याओं को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इस स्थिति में व्यक्ति समाज के मूल्यों की चिंता किए बिना, जो उन्हें अच्छा लगता है वह करने लगते हैं और इससे समाज में अव्यवस्था और सामाजिक समस्याएँ बढ़ जाती है। व्याधिकीय स्थिति एक प्रकार से आदर्शविहीनता की स्थिति है, जिनमें समाज में पाए जाने वाले आदर्श नियम व्यवहार को नियमित करने में असफल रहते हैं। लोग मनमाना व्यवहार करने लगते हैं तथा इससे अनेक नवीन सामाजिक समस्याएँ विकसित हो जाती हैं।

1.5 सामाजिक समस्याओं के अध्ययन की पद्धतियाँ

सामाजिक समस्याओं का अध्ययन विविध प्रकार की पद्धतियों द्वारा किया गया है।

इन पद्धतियों को हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं-

गुणात्मक पद्धतियाँ

प्रमुख गुणात्मक पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं-

1. **ऐतिहासिक पद्धति-** यह पद्धति समाजों, सभ्यताओं, समुदायों, घटनाओं, संस्थाओं व समस्याओं के विकासक्रम या समय-क्रम में अध्ययन करने की पद्धति है, जिसका प्रयोग उत्पत्ति, विकास या रूपांतर से संबंधित अध्ययनों में किया जाता है। प्रारंभिक समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययनों में अधिकांशत: इसी पद्धति को अपनाया है। सामाजिक समस्याओं की उत्पत्तिएवं विकास के अध्ययन में यह पद्धति अत्यधिक उपयोगी है।
2. **वैयक्तिक अध्ययन पद्धति-** यह किसी सामाजिक इकाई या समस्या के गहन एवं विस्तृत अध्ययन करने की प्रमुख पद्धति है। गुड एवं हैट के अनुसार "*वैयक्तिक अध्ययन पद्धति सामाजिक तथ्यों को संगठित करने का वह ढंग है जिससे अध्ययन किए जाने वाले विषय के एकात्मक स्वभाव का संरक्षण हो सके। थोड़े से भिन्न रूप में यह पद्धति है, जिसमें किसी इकाई को एक समग्र के रूप में देखा जाता है*।" सामाजिक समस्याओं के अध्ययन में यह पद्धति अत्यधिक उपयोगी है, क्योंकि इससे सामाजिक समस्या के सभी पक्ष स्पष्ट हो जाते हैं।
3. **सामुदायिक अध्ययन पद्धति-** यह अध्ययन पद्धति जनजातीय समस्याओं एवं विभिन्न संप्रदायों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए प्रयुक्त की जाती है। इसके द्वारा जनजातीय कल्याण, श्रम कल्याण, दलित कल्याण, महिला कल्याण इत्यादि सामुदायिक समस्याओं का अध्ययन सफलतापूर्वक किया गया है।
4. **आदर्श-प्रारूप विश्लेषण पद्धति-** यह पद्धति भी कार्य-कारण संबंधों का अध्ययन करने में मैक्स वेबर जैसे विद्वानों द्वारा प्रयुक्तकी गई है। आदर्श-प्रारूप एक प्रकार का अवधारणात्मक ढाँचा, है, जो कि अन्वेषणकर्ता को वास्तविक घटनाओं में समानताओं एवं असमानताओं को मापने में सुविधा प्रदान करता है। जो समस्याएँ विश्लेषणात्मक एवं वर्णनात्मक प्रकृति की होती हैं, उनके अध्ययन में यह पद्धति अधिक उपयोगी है।

गणनात्मक या संख्यात्मक पद्धतियाँ

प्रमुख गणनात्मक या संख्यात्मक पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं-

1. **सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति-** व्यावहारिक समस्याओं के अध्ययन के लिए यह सबसे उपयुक्त पद्धति मानी जाती है तथा इसके द्वारा अपराध, भिक्षावृत्ति, बेरोज़गारी, निर्धनता, जनसंख्या वृद्धि आदि विविध प्रकार की समस्याओं का सफल अध्ययन किया गया है। वेल्स ने तो सामाजिक सर्वेक्षण की परिभाषा ही इसी अर्थ में की है। इनके शब्दों में, "श्रमिक वर्ग की निर्धनता तथा समुदाय की प्रकृति और समस्याओं संबंधी तथ्य खोजने वाला अध्ययन ही सामाजिक सर्वेक्षण है।"
2. **सांख्यिकीय पद्धति-** सांख्यिकीय अनुसंधान का उद्देश्य भूत और भविष्य की तुलना करना है। सामाजिक समस्याओं के प्रभाव का अध्ययन इस पद्धति द्वारा किया गया है। पी॰ वी॰ यंग के अनुसार वैयक्तिक अध्ययन पद्धति और सांख्यिकीय पद्धति एक-दूसरे की पूरक हैं यद्यपि दोनों ही

सामाजिक परिस्थिति को भिन्न दृष्टिकोणों से देखती हैं तथा उस परिस्थिति में प्रभाव डालने वाले सामाजिक कारणों पर पृथक रूप से बल देती हैं।

3. **समाजमिति-** इस पद्धति द्वारा सामाजिक दूरी एवं व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों को मापने का प्रयास किया जाता है। असंतोष एवं वैर, वैमनस्य जैसी समस्याओं को इसके द्वारा समझा जा सकता है। जे॰ एल॰ मोरीनो तथा हेलन हल जेनिंग्स ने इस पद्धति का निर्माण सामाजिक दूरी एवं पारस्परिक संबंधों के अध्ययन के लिए किया है। फैज के अनुसार, "*समाजमिति एक ऐसी पद्धति है, जिसे कि समूह में विभिन्न व्यक्तियों के बीच पाए जाने वाले आकर्षण के माप द्वारा सामाजिक स्वरूपों के अन्वेषण एवं संचालन के लिए प्रयोग किया जाता है।*"

1.6 सामाजिक समस्याओं का मापन

सामाजिक समस्याओं को मापना और उनके स्वरूपकी वास्तविकता को जानना बहुत ही कठिन कार्य है, क्योंकि जो स्थिति एक समाज में सामाजिक समस्या के रूप में जानी जाती है, वहीं दूसरे समाज में सामान्य तथ्यों के रूप में जानी जा सकती हैं। एक किसी काल या समय विशेष में जिस स्थिति को सामाजिक समस्या के रूप में देखा जाता है, वहीं दूसरे काल विशेष में सामान्य स्थिति मानी जा सकती है पुनः एक समाज में कुछ लोग उस स्थिति को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भी देखते हैं, कुछ उसे समस्या के रूप में, जबकि कुछ सामान्य परिस्थिति के रूप में मानते है। फिर भी सामाजिक समस्या को मापा जा सकता है। इसके माप के निम्मलिखित तीन आधार हो सकते हैं।

भावात्मक आधार: सामाजिक समस्या और भावना में गहरा संबंध माना जाता है किसी भी दशा को उसी समय सामाजिक समस्या माना जाएगा, जब वह जनसाधारण की भावनाओं के प्रतिकूल हो जन-भावनाएँ किसी दशा के जितना अधिक प्रतिकूल होंगी, सामाजिक समस्या भी उतनी ही अधिक गंभीर होगी। वर्तमान समय में अनेक कारणों से स्त्री के प्रति पुरुष की भावनाओं में परिवर्तन आने से वेश्यावृत्ति को एक सामाजिक समस्या के रूप में देखा जाता है। किसी समय विवाह तथा अन्य सामाजिक उत्सवों के अवसर पर वेश्याओं के नाचगानों के कार्यक्रमों को उचित समझा जाता था। उस समय वेश्यावृत्ति सामाजिक समस्या के रूप में नहीं मानी जाती थी। साधारणतः जनसामान्य की भावनाओं के पीछे नैतिकता की धारणा दिखाई देती है, जिसके आधार पर उचित-अनुचित का भेद किया जाता है। जो भी व्यवहार नैतिक दृष्टि से अनुचित माने जाते हैंउसके प्रति जन-भावनाएँ काफ़ी प्रतिकूल होती हैं और उन्हें सामाजिक समस्या के रूप में देखा या समझा जाता है।

सामाजिक समस्याओं के माप कायह आधार दोषपूर्ण है, क्योंकि भावनाएँ मूलतः व्यक्तिगत होती है, न कि सामूहिक। अतः भावनाएँ मापना और उनके आधार पर किसी सामाजिक समस्या की गंभीरता का पता लगाना कठिन है।

सांस्कृतिक आधार: जो दशा या व्यवहार एक समाज विशेष की सांस्कृतिक विशेषताओं या परंपराओं के प्रतिकूल होता है, उसे सामाजिक समस्या के रूप में देखा जाता है। किसी भी समाज के संस्कृति के

अंतर्गत कुछ मूल्य, आचरण के तौर-तरीके तथा आदर्श-नियम आदि होते हैं। समाज के सभी सदस्यों से इन सांस्कृतिक विशेषताओं को बनाए रखने की आशा की जाती है। जब किसी समाज के बहुत से लोग सांस्कृतिक मूल्यों, आदर्श-नियमों और मान्य व्यवहार के प्रतिमानों से विपरीत आचरण करने लगते हैं, तो ऐसे व्यवहार को सामाजिक समस्या माना जाता है। वर्तमान समय में हमारे सांस्कृतिक मूल्यों में बदलाव आया है, आदर्श नियमों में परिवर्तन तथा कुछ नवीन व्यवहार के प्रतिमान पनप रहे हैं। अतः आज अस्पृश्यता, बाल-विवाह, तथा दहेज प्रथा आदि को सामाजिक समस्याएँ माना जाता है। किसी समय विशेष में समस्याएँ नहीं माना जाता था, क्योंकि इनसे संबंधित व्यवहार को सांस्कृतिक विशेषताओं के अनुरूप माना जाता था। लेकिन आज हमारे बदले हुए सांस्कृतिक मूल्यों के विपरीत समझा जाता है और इस कारणवश वह समस्या के श्रेणी में आता है।

सामाजिक समस्या के माप के सांस्कृतिक आधार में एक प्रमुख कमी यह है कि सांस्कृतिक मूल्य भी भावनात्मक तथ्य है। इसके आधार पर किसी सामाजिक समस्या को गहराई से समझा जा सकता है, लेकिन उसे मापना संभव नहीं है।

सांख्यिकीय आधार: सामाजिक समस्याओं को मापने में सांख्यिकीय पद्धति का प्रयोग दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। यह सामाजिक समस्या के माप का एक निश्चित, सुस्पष्ट और वैज्ञानिक आधार है। इसके आधार पर यह पता लगाया जाता है कि किसी दशा या व्यवहार का जनसाधारण पर क्या प्रभाव पड़ता है? इससे कितनी मात्रा में लोग प्रभावित हो रहे हैं? इस संबंधित तथ्य संकलित करने के लिए सरकारी, अर्ध-सरकारी एवं गैर-सरकारी संगठनों या कुछ विद्वानों द्वारा सर्वेक्षण किए जाते हैं। ऐसे सर्वेक्षणों से किसी स्थिति विशेष के संबंध में लोगों की प्रतिक्रिया का पता चलता है, उनकी अभिवृत्तियों के संबंध में जानकारी मिलती है साथ ही लोग उसे किस रूप में देखते है इसका ज्ञान होता है। वर्तमान में सांख्यिकीय विधि की सहायता से यह पता लगाया जाता है कि कितने लोग बेकारी और निर्धनता की समस्या से पीड़ित हैं? कितने लोग विधवा विवाह को उचित समझते है और कितने अनुचित? लोगों में मद्यपान की प्रवृति किस मात्रा में पाई जाती है? कितनी विधवाएँ विवाह करना चाहती हैं और कितनी नहीं। इस विधि से यह भी जानकारी प्राप्त की जा सकती है कि किसी भी समस्या विशेष का समाज के किस-किस वर्ग के लोगों पर क्या प्रभाव पड़ता है? साथ ही कौन से वर्ग के लोग कितने गंभीर रूप से प्रभावित है? इस प्रकार के तथ्यों या आंकड़े संकलित करके किसी सामाजिक समस्या की गंभीरता को मापा जा सकता है और उसे हल करने के लिए ठोस उपाय किए जा सकते हैं।

1.7 सामाजिक समस्याओं के सैद्धांतिक उपागम

यद्यपि सामाजिक समस्याएँ अनिवार्य रूप से व्यक्तिनिष्ठ होती हैं फिर भी उनका वैज्ञानिक रूप से अध्ययन हो सकता है। हम कुछ ऐसे सैद्धांतिक उपागमों पर विचार करेंगे, जो सभी प्रकार की सामाजिक समस्याओं की विश्वव्यापक व्याख्याएँ देते हैं:

सामाजिक विघटन उपागम (Social Disorganisation Approach)

सामाजिक विघटन समाज समुदाय या समूह की वह स्थिति है जिसमें सामाजिक नियंत्रण सामाजिक व्यवस्था या औपचारिक एवं अनौपचारिक प्रतिमान, जो उचित व्यवहार को परिभाषित करते हैं, दूर हो जाते हैं। आपसी सहयोग, सामान्य मूल्य, एकता, अनुशासन और भविष्यवाणी करने के सामर्थ्य की कमियां इसके लक्षण हैं। वारेन ने यह कहकर इसका वर्णन किया है कि यह वह स्थिति है जिसमें -

1) सर्वसम्मति का अभाव (समूह के उद्देश्यों के बारे में मतभेद)

2) संस्थाओं के एकीकरण का अभाव और

3) सामाजिक नियंत्रण के अपर्याप्त साधन होते हैं।

इलियट और मेरिल के अनुसार यह एक प्रक्रिया है, जिससे समूह के सदस्यों के आपसी संबंध विच्छेद या लुप्त हो जाते हैं। सामाजिक अव्यवस्था उस समय उत्पन्न होती है जब शक्तियों से संतुलन में परिवर्तन होता है। सामाजिक ढाँचे टूट जाते हैं, जिससे पुराने संरूप पुनः काम नहीं कर पाते और सामाजिक नियंत्रण के स्वीकृत ढाँचे प्रभावी रूप से काम नहीं करते हैं। समाज की यह विघटनकारी अवस्था, जिसका संकेत मानदंडों के नष्ट होने, भूमिका संघर्ष, सामाजिक संघर्ष और नैतिक पतन से मिलता है, सामाजिक समस्याओं को बढ़ावा देताहै। उदाहरण के लिए बढ़ता हुआ औद्योगीकरण, शिक्षा के प्रसार और स्त्रियों के वैतनिक कार्य (paid work) करने से पति-पत्नी, माता-पिता और बच्चों के बीच संबंध प्रभावित हुए है। कई पुराने नियम जो परिवार के सदस्यों और अंतर परिवारों पर लागू होते थे, वे टूट चुके हैं। कईव्यक्ति निराश और अप्रसन्न रहते हैं। सामाजिक अव्यवस्था में जीवन की आधारभूत स्थितियों में परिवर्तन आने से परंपरागत प्रतिमान टूट गए हैं और इस कारण असंतोष और मोह भंग व्याप्त है। दूसरे शब्दों में,परिवर्तन ने पुरानी व्यवहार व्यवस्था को तोड़ दिया है। गंदी बस्तियोंके जीवन के सामाजिक विघटन की बात करते हुए वाइट ने गंदी बस्तियों में विचलन और अस्वीकृत समूह संगठन का उल्लेख किया है।

फिर भी एक विचारधारा के अनुसार सामाजिक विघटन की स्थिति सदैव सामाजिक समस्याओं को उत्पन्न नहीं करती है। उदाहरणार्थ हिटलर के शासनकाल में जर्मनी का समाज विघटित नहीं था और स्टालिन के शासनकाल में रूस में विघटन नहीं था फिर भी इन देशों में कई स्थितियां "सामाजिक आदर्श से परे और स्तब्ध करने वाली विसामान्यताएं" थी , जिनके विरुद्ध सामाजिक कार्यवाही करना आवश्यक था, यानि कि वहां "सामाजिक समस्याएं" विद्यमान थीं। इस विचारधारा पर प्रतिक्रिया करते हुए कुछ विद्वानों का मत है कि यदि सामाजिक विघटन का सिद्धांत सभी सामाजिक समस्याओं की व्याख्या नहीं कर सकता फिर भी वह कई सामाजिक समस्याओं को अवश्य स्पष्ट करता है। उदाहरण के लिए मानसिक रोग सामाजिक विघटन का भले ही लक्षण न हो , परंतु समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार आवश्यक संस्थाओं को ठीक से नहीं चलने देता और इससे पूर्ण सर्वसम्मति का अभाव हो जाता है और कुछ नागरिक सामाजिक नियत्रंण की परिधि से बाहर निकल जाते हैं।

सामाजिक विघटन के उपागम को सामाजिक समस्याओं पर लागू करते समय जिन कारकों को देखा जाता है, वे हैं पारंपरिक मानदंड और प्रथाएं क्या थे? ऐसे कौन से प्रमुख परिवर्तन हुए, जिन्होंने उन्हें

अप्रभावी बना दिया ऐसे कौन से पुराने नियम हैं, जो आंशिक अथवा पूरेरूप से टूट गया है? सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति और दिशा क्या है? असंतुष्ट समूहकौन से हैं और वे कैसे समाधानों की प्रस्तावना करते हैं? कहां तक विभिन्न प्रस्तावित समाधान सामाजिक परिवर्तन की प्रवृत्ति के अनुरूप है? भविष्य में कौन से नियम स्वीकार्य होंगे?

सांस्कृतिक विलंबना उपागम

सांस्कृतिक विलंबना एक ऐसी स्थिति है जिसमें एक संस्कृति के कुछ भागों में दूसरे संबंधित भागों की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से परिवर्तन होते हैं, जिसके परिणामस्वरूप संस्कृति का समाकलन और संतुलन भंग हो जाता है। उदाहरणार्थ औद्योगिक समाजों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी में तीव्र गति से विकास होने के कारण भौतिक संस्कृति में अभौतिक संस्कृति की अपेक्षा तीव्र गति से परिवर्तन होता है आगबर्न (1966) का सांस्कृतिक विलंबना का सिद्धांत विशेषरूप से यह मानता है कि आधुनिक समाजों में राजनीतिक, शैक्षणिक, पारिवारिक और धार्मिक संस्थाओं में इस प्रकार के परिवर्तन होने की प्रवृति होती है कि वे प्रौद्योगिकी परिवर्तनों में पिछड़ रहे हैं। इस प्रकार यह आसानी से देखा जा सकता है कि सांस्कृतिक विलंबना किस प्रकार सामाजिक समस्याएं उत्पन्न कर सकती है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में तेज़ी से हुए औद्योगीकरण के उपरांत भी कुछ व्यक्ति जाति व्यवस्था की कट्टर पाबंदियों से इतने प्रभावित थे कि वे उद्योगों में दूसरी जातियों के सदस्यों के साथ काम करने से मना कर देते थे और उन्हें बेरोज़गार और निर्धन रहना प्रियकर लगता था। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध सांस्कृतिक विलंबना का कालरहा। कृषि और उद्योग में प्रौद्योगिकी विकास को समावेश करने में एक पीढ़ी से अधिक का समय लगा। इस प्रकार हमारी सामाजिक संस्थाओं में परंपरा की महक रही जब कि संसार में प्रौद्योगिकी का विकास होता रहा। जैसा पहले कहा जा चुका है कि यद्यापि सांस्कृतिक विलंबना का सिद्धांत कुछ सामाजिक समस्याओं की व्याख्या करता है परंतु सभी समस्याओं की नहीं, इसीलिए इसे सभी सामाजिक समस्याओं की सार्वभौमिक व्याख्या करने वाला सिद्धांत नहीं माना जा सकता।

मूल्य-संघर्ष उपागम:

मूल्यों का हमारे जीवन में बड़ा महत्व है। मूल्यों के आधार पर ही यह निश्चित होता है कि हमें कौन सा काम करना चाहिए और कौन सा नहीं। समाज में कुछ मूल्य अन्य की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। भिन्न-भिन्न समूहों के अलग-अलग मूल्यों के होने से मूल्य संबंधी अंतर पाए जाते हैंमूल्य व्यवहार का एक सामान्य नियम है, जिसके प्रति एक समूह के सदस्य दृढ़, भावात्मक एवं वास्तविक वचनबद्धता महसूस करते हैं और जो विशिष्ट कार्यों और लक्ष्यों के आँकने के लिए एक मानदंड होता है। समूह के प्रत्येक सदस्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समूह द्वारा अपनाए गए मूल्यों के प्रति वचनबद्ध रहेगा। मूल्य इस प्रकार व्यवहार के सामान्य मानदंडों का कार्य करते हैं। समता, न्याय, स्वतंत्रता, देशभक्ति, गतिशीलता, वैयक्तिता, समष्टिवाद, समझौता, बलिदान, समायोजन आदि मूल्यों के उदाहरण हैं। मूल्यों के

साथ तीव्र भावनाओं के जुड़े होने के कारण और उनके प्रत्यक्ष लक्ष्यों और क्रियाओं केआँकने के मानदंड होने के कारण उन्हें प्रायः स्वयंभू समझा जाता है

विभिन्न समूहों की विभिन्न मूल्य व्यवस्थाएँ होती हैं दो या दो से अधिक समूहों के मूल्यों में असंगति व्यक्तियों की अपनी भूमिका-पालन में यदि हस्तक्षेप करती है, तो उसे मूल्य-संघर्ष कहा जाता है। संघर्ष की यह स्थिति कुछ समय के लिए हो सकती है या स्थायी समस्या का रूप धारण कर सकती है। उदाहरण के लिए- श्रमिकों और मालिकों के मूल्यों में संघर्ष के कारण औद्योगिक अशांति, हड़ताल और तालाबंदी होती है; जमीन के मालिकों और भूमिहीन किसानों के मूल्यों में संघर्ष केकारण कृषि क्षेत्र में अशांति रहती है और कृषि श्रमिकों के आंदोलन होते हैं, उदार उद्योगपति परिश्रम, मितव्ययता, ईमानदारी और महत्वाकांक्षा को प्रोत्साहित करने में विश्वास रखते हैं और इन गुणों के लिए वित्तीय पारितोषिक प्रदान करते हैं, तो दूसरी ओररूढ़िवादी इस विचार से गहरा मतभेद रखते हैं और मुनाफे के उद्देश्य और वैयक्तिक पहल में विश्वास रखते हैं। इस प्रकार उदारवादियों और रूढ़िवादियों में केवल नीतियों के मामलों में ही नहीं, अपितु मूल्यों के मामले में भी गंभीर मतभेद होते हैं

मूल्य-संघर्ष सिद्धांत में से वालर, फुलर, क्युबर और हार्पर का विश्वास है कि सामाजिक समस्याओं की उत्पतिऔर विकास में मूल्यों के संघर्षोंका विशेष महत्व होता है। वालर ने संगठनात्मक और मानवीय मूल्यों में संघर्ष का उल्लेख किया है संगठनात्मक मूल्य निजी संपति और व्यक्तिवाद के पक्ष में हैं, जबकि मानवीय मूल्य दूसरों के कष्टों के निवारण करने के पक्षधर हैं

, परंतु यह सैद्धांतिक उपागम बहुत ही स्पष्ट है। इसके रचयिताओं ने अपने विचारों का विस्तृत वर्णन नहीं किया है। यह कदाचित सही है कि हमारे सामाजिक मूल्य पैसे और भौतिक संपति पर अत्यधिक बल देते हैं और यह मनोवृत्ति भ्रष्टाचार, तस्करी, मादक द्रव्यों के व्यापार, कालाबाजारी और रिश्वत लेने को प्रोत्साहित कर सकती है, परंतु सफेदपोश अपराध जैसी समस्याओं को मूल्यों के संघर्ष की संज्ञा नहीं दी जा सकती। तलाक की समस्या मूल्य संघर्ष का परिणाम हो सकती है, परंतु सभी पारिवारिक समस्याएँ पति-पत्नी, या माता-पिता और संतानों के मतभेदों के कारण नहीं होतीं। परिवार में आपसी संबंधों को सद्भावपूर्ण बनाए रखने में सामान्य मूल्यों पर सहमति सहायक सिद्ध होती है, परंतु यही एक बात पारिवारिक स्थायित्व या समूह की सफलता के लिए आवश्यक नहीं है। इस प्रकार मूल्य-संघर्ष का सिद्धांत अर्थशास्त्र और सामाजिक समस्याओं के विश्लेषण में उपयोगी माना जा सकता है, लेकिन इसकी सार्वभौमिक व्याख्या नहीं मानी जा सकती।

इस उपागम की सबसे बड़ी कमी यह है कि केवल मूल्यों के संघर्ष के आधार पर सभी सामाजिक समस्याओं को नहीं समझाया जा सकता। मूल्य-संघर्ष उपागम को लागू करते समय साधारणतः यह सवाल उठाए जाते हैं कि कौन से वे मूल्य हैं जिनमें संघर्ष है? मूल्य संघर्ष कितना गहरा है? समाज में कौन से समूह किन संघर्षरत मूल्यों में विश्वास रखते हैं? वे कितने शक्तिशाली हैं? कौन से मूल्य लोकतंत्र और स्वतंत्रता जैसे दूसरे अधिक महत्वपूर्ण मूल्यों के अनुकूल हैं प्रत्येक समाधान में किन-किन मूल्यों का

बलिदान करना होगा? क्या कुछ विशेष असंगत मूल्य-संघर्षों के कारण सामाजिक समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता है?

वैयक्तिक विचलन उपागम

वैयक्तिक विचलन के अंतर्गत उन व्यक्तियों की प्रेरणाओं और व्यवहार का अध्ययन किया जाता हैं, जो समस्याओं को उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैंवे लोग विचलित व्यक्ति कहलाते हैं, जिनका व्यवहार सामाजिक समस्याओं की उत्पति में योगदान देता है विचलन सामाजिक मानदंडों का अपालन (non-conformity)है। यह असामान्य व्यवहार से भिन्न है, क्योंकि असामान्य व्यवहार मानसिक रोग की ओर संकेत करता है न कि सामाजिक कुसमायोजन अथवा संघर्ष की ओर। सामाजिक समस्याओं के सामाजिक विघटन उपागम में हम उन नियमों का अध्ययन करते हैं जो टूट गए हैं और उन परिवर्तनों का जो इनके टूटने से आए हैं। वैयक्तिक विचलन उपागम में हम विचलित व्यक्तियों की प्रेरणा और व्यवहार का अध्ययन करते हैं, जो समस्याओं को उत्पन्न करने में उपकरण बने हैं वैयक्तिक विचलन उपागम में दो तत्वों की व्याख्या आवश्यक है -

- वैयक्तिक विचलन कैसे बढ़ा?
- सामाजिक समस्याओं में किस प्रकार के वैयक्तिक विचलन बारबार आए?

मिलर विचलित व्यवहार को सामाजीकरण की प्रक्रिया का ही एक अंग मानते हैं। विचलित व्यवहार व्यक्ति समूह की स्वीकृत संस्कृति के विपरीत मूल्यों को समूह में सीखता है विचलित व्यवहार एकाएक ही नहीं सीखा जाता, अपितु धीरे-धीरे समाजीकरण के द्वारा व्यक्तित्व में ढलता है। वैयक्तिक विचलन दो कारणों से बढ़ता है -

- मान्यताप्राप्त मानदंडों का पालन करने में एक व्यक्ति की असमर्थता
- सामान्यरूप से मान्यता प्राप्त मानदंडों को मानने में एक व्यक्ति की विफलता।

एक व्यक्ति की भावनात्मक, सामाजिक या जीव-विज्ञान संबंधी कमजोरी के कारण प्रथम कारक उत्पन्न होता है, अर्थात् कुछ व्यक्ति जैविक भावात्मक या सामाजिक रूप से इस प्रकार बने होते हैं कि वे सामान्यतः मान्यता प्राप्त नियमों का सुसंगत रूप से अनुसरण करने में असमर्थहोते हैं। सामाजिक रूप से अपूर्ण व्यक्ति सही अर्थों में मानदंडों को नहीं तोड़ते बल्कि वे मानदंडों को सीखते हैं और उसका पालन करने में अपनी असमर्थता दिखाते हैं। सामाजिक अपूर्णता जीव-मनोवैज्ञानिक होती है। यह विचलित व्यक्तियों को, जो सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न करते हैं और समस्याओं कोबढ़ने में अपना योगदान देते है, उन्हें अपनी समस्याओं के उपचार की आवश्यकता होती है दूसरी ओर एक व्यक्ति की सामाजिक मानदंडों के अनुपालन में असफलता का संबंध उसके समाजीकरण की कमी के कारण होता है इस कारण वह समस्या ग्रस्त व्यक्ति सीखे हुए मानदंडों और मूल्यों पर अमल नहीं कर पाता है। उनके अपने स्वार्थ के लिए झूठ बोलने, धोखा देने, शोषण करने और दूसरों को बदनाम करने की प्रवृत्ति होती है

उनका विचलन उनमें कोई अपराध भावना या लज्जा की भावना भी जागृत नहीं करता॥ जब तक उनकी स्थिति उनके निहित स्वार्थों के लिए हितकारी होती है, उन्हें इसकी कोई भी चिंता नहीं होती है कि उसके कारण सामाजिक समस्याएँ बनीं हुई हैं और कोई समाधान होना संभव नहीं है।

हार्टन एवं लेस्ले ने वैयक्तिक विचलन के तीन प्रकार बताए हैं-

1) विचलन जो विभिन्न संदर्भ-समूहों के मानदंडों को मानने के फलस्वरूप होते हैं सांस्कृतिक विभिन्नता के कारण अधिकांश व्यक्ति मानदंडों के ऐसे भिन्न प्रकारों से प्रभावित होते हैं जिनका आपस में टकराव हो सकता है।

2) विचलन, जो विचलित उप-संस्कृतियों के फलस्वरूप होता है।

3) सामान्यतया मान्यता प्राप्त नियमों का पूर्णतया विचलन।

सामाजिक समस्याओं केअध्ययन में वैयक्तिक विचलन की विधि का प्रयोग हार्टन तथा लेस्ले ने किया है। कौन से व्यक्ति एवं समूह नियमों से विचलितहोते हैं? क्या विचलित व्यक्ति स्वयं ही एक समस्या हैं या वे समस्या को उत्पन्न करने में सहायता प्रदान करते हैं? कौनसी विचलित उप-संस्कृतियाँ उनमें अपनी भूमिका निभाती हैं? विचलित व्यवहार करने वाले व्यक्तियों के समाधान के लिए कौन-कौन से विकल्प हैं?

मानक शून्यता (एनोमी) उपागम:

मानक शून्यता उपागम को मर्टन ने प्रस्तुत किया है एनोमी ऐसी स्थिति है, जिसमें समाज अथवा समूह के मानदंड एवं मूल्य तुलनात्मकरूप से दुर्बलता या अस्तव्यस्तता आ जाती है एनोमी की परिकल्पना सर्वप्रथम दुर्खीम ने विभाजन और आत्महत्या को समझाने के लिए किया था, परंतु मर्टन ने दुर्खीम के बाद इसका प्रयोग समाज में सामाजिक और सांस्कृतिक संरचनाओं के चलते उत्पन्न विचलित व्यवहार को समझाने के लिए किया। जब सांस्कृतिक मानदंडों और लक्ष्यों में और उनके अनुकूलन समूह के सदस्यों की सामाजिक संरचित क्षमताओं में वियोजन(disjunction) उत्पन्न हो जाता है, तब मानक शून्यता की स्थिति में सामाजिक संरचना टूट जाती है

मानक शून्यता सामाजिक एकता के विचार का प्रतिरूप है, जिस प्रकार एकता सामूहिक विचारधारा के समाकलन (intrgration) की स्थिति है, एनोमी दुविधा, असुरक्षा और मानदंडों के होने की स्थिति है मर्टन ने कहा है कि लक्ष्यों और साधन में वियोजन और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न तनाव की स्थिति व्यक्तियों की संस्कृति द्वारा निर्धारित किए गए लक्ष्यों या संस्थात्मक साधनों या दोनों के प्रति वचनबद्धता में निर्बलता आ जाने के कारण होती है। मर्टन इस प्रकार व्यक्तियों की विशेषताओं में तनाव के स्त्रोतों को खोजने के बजाय उनको संस्कृति या सामाजिक संरचना में खोजते हैं वह कहते हैं कि सामाजिक समस्या व्यक्तियों की अपनी सामाजिक परिस्थितियों आवश्यकताओं के अनुरूप आचरण नहीं करने से होती है बल्कि इन सामाजिक परिस्थितियों को यथोचित सुसंगत सामाजिक व्यवस्था में बांधने के प्रयत्न में

दोषपूर्ण संगठन द्वारा होती है फिर भी मर्टन का सिद्धांत अधूरा है सामाजिक समस्याओं को तनाव अनुकूलन या समायोजन के ढंगों की प्रतिक्रियाओं का परिणाम नहीं माना जा सकता है

1.8 सारांश

इस इकाई में हमने सामाजिक समस्या की अवधारणा के विभिन्न आयामों को समझा, जिसमें सामाजिक समस्या की उत्पत्ति, सामाजिक समस्या की मापन पद्धतियाँ, सामाजिक समस्या की विशेषताएँ आदि पर विस्तार से बात की है। हमने यह भी देखा कि सामाजिक समस्याएँ विशेष काल-स्थान सापेक्ष होती हैं, इसलिए उसका मापन एवं निर्धारण का कोई सार्वभौमिक मानदंड नहीं हो सकता। बेहतर होगा कि समाज कार्य के विद्यार्थी अपनी आस-पास की समस्याओं का आंकलन कर समस्या की अवधारणा को समझें।

1.9 बोध प्रश्न

1. सामाजिक समस्या किसे कहते हैं? इसकी प्रमुख विशेषताओं की चर्चा कीजिए।
2. सामाजिक समस्या को परिभाषित करते हुए उनके मापन का आधार स्पष्ट कीजिए।
3. सामाजिक समस्या की उत्पत्ति पर चर्चा कीजिए।
4. सामाजिक समस्या से आप क्या समझते है? उदाहरण से स्पष्ट कीजिए।
5. सामाजिक समस्याओं के सैद्धांतिक उपागम कौनकौन से है उसकी चर्चा कीजिए?
6. सामाजिक समस्या के अध्ययन पद्धति की विवेचना कीजिए।

1.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

Fuller, Richard C.&Myres, Richard R. (1941). *The Natural History of a Social Problem*. American Sociological Review. Vol.6

Merton, R.K. (1957). *Social Theory and Social Structure*. New York: Free Press Glencoe.

Raab E.. and Selznick, G. J.(1959). *Major Social Problems*. Illinois: Row Peterson.

Horton, Paul B. and Gerald R. (1955). *The Sociology of Social Problem. New York*: Appleton-Century-Crofts.

Becker, Howard S. (1966). *Social Problem: A Modern Approach.* New York: john Wiley & Sons.

Green, A. W. (1968). *Sociology: An Analysis of life in Modern Society.* New York: Mcgraw-Hill.

Stark, Rodeny. (1977). *Social Problem*. New York: Random House.
आहूजा, राम. (2016). *सामाजिक समस्याएँ*.नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशन्स.
शर्मा, वी. प्र.(2004).*भारतीय समाज मुद्दे और समस्याएँ*. जयपुर: पंचशील प्रकाशन.
चन्द्र, डॉ. सो. शि. (2002). *भारत में सामाजिक समस्याएँ*. नई दिल्ली: कनिष्का पब्लिशर्स.

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई: 2 सामाजिक समस्या के कारण एवं प्रकार

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 सामाजिक समस्या के कारण
2.3 सामाजिक समस्याओं के प्रकार
2.4 सारांश
2.5 बोध प्रश्न
2.6 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप -

- सामाजिक समस्याओं के कारणों को प्रदर्शित कर सकेंगे।
- सामाजिक समस्याओं के प्रकारों को स्पष्ट कर सकेंगे।
- सामाजिक समस्याओं के मूल स्त्रोत को रेखांकित कर सकेंगे।

2.1 परिचय

भारत एक प्राचीन देश है, कुछ अनुमानों के अनुसार भारतीय सभ्यता लगभग5 हजार वर्ष पुरानी है, इसलिए इसका समाज भी बहुत पुराना और जटिल प्रकृति का है। अपनी लंबी ऐतिहासिक अवधि के दौरान, भारत बहुत से उतार-चढ़ावों और अप्रवासियों के आगमन का गवाह हैं। इसलिए, भारतीय समाज विविध संस्कृतियों, लोगों, विश्वासों, मान्यताओं का जटिल मिश्रण हैं जो शायद कहीं से भी आया हो, लेकिन अब इस विशाल देश का एक अभिन्न हिस्सा है। इस जटिलता और समृद्धि ने भारतीय समाज को एक जीवंत और बहुल संस्कृति का अद्वितीय रूप दिया है। जटिलता अपने साथ बहुत सी सामाजिक समस्याओं और मुद्दों की जटिल प्रकृति को सामने लाती हैं। वास्तव में पूरे संसार के प्रत्येक समाज में भारतीय समाज की ही तरह अपने अलग-अलग सामाजिक मुद्दे होते हैं। भारतीय समाज बहुत गहराई से धार्मिक विश्वासों से जुड़ा हुआ है; यहाँ विभिन्न धार्मिक विश्वासों को मानने वाले लोग रहते हैं, जैसे- हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी आदि। ये सभी देश की सामाजिक-सांस्कृतिक किस्मों में जुड़ती हैं। भारतीय सामाजिक समस्याएँ भी लोगों की धार्मिक प्रथाओं और विश्वासों में निहित हैं। लगभग सभी सामाजिक मुद्दों और समस्याओं की उत्पत्ति भारत केलोगों की धार्मिक और सांस्कृतिक प्रथाओं से होती

हैं। ये सामाजिक समस्याएँ बहुत लंबे समय से विकसित हुई हैं और अभी भी अलग रूप में जारी हैं। विदेशी आक्रमणकारियों ने इसके लंबे इतिहास में भारत पर हमला किया, जिनमें से कुछ ने इस देश को अपना लिया और अपने सामाजिक-धार्मिक प्रथाओं को मानने के लिए मजबूर किया, जिससे सामाजिक स्थिति भी बिगड़ गई; लंबी अवधि के ब्रिटिश शासन ने देश को अपंग बना दिया और पिछड़ेपन की ओर फेंक दिया। इस प्रकार, बहुत से कारणों को भारत की सामाजिक समस्याओं के लिए उद्धृत किया जा सकता है, लेकिन वास्तविकता ये है कि हम ये मुद्दे रखते हैं और केवल हम ही इन्हें सुलझा सकते हैं।

2.2 सामाजिक समस्याओं के कारण

सामाजिक समस्याओं को विकृत सामाजिक स्थितियाँ जन्म देती हैं।ये सभी समाजों में उत्पन्न होती है, चाहे वे समाज साधारण हों अथवा छोटे पृथक समरूप समाज हों, जिनमें सामूहिक एकात्मकता की दृढ़ भावना होती है और , जिनमें परिवर्तन बहुत धीमी गति से होता है या जटिल हों , जिनमें अवैयक्तिक द्वितीयक संबंध, गुमनामी, एकाकीपन, तीव्र गतिशीलता और अत्यधिक विशेषज्ञता होती है और , जिनमें परिवर्तन अधिक शीघ्र होता है। यानि जहाँ कहीं भी और जब भी व्यक्तियों के समूह में पारस्परिक संबंध प्रभावित होते हैं, जिससे कुसमायोजन और संघर्ष उत्पन्न होते हैंइस बारे में **वीवर** अपनी किताब सोशल प्रोब्लेम में कहते हैं कि सामाजिक समस्याओं का प्रमुख कारण समाज में अंतर्निहित मानवीय आवश्यकताओं का नैराश्य है जिसने प्रौद्योगिकी को प्रायः क्रांतिकारी अंकों में परिवर्तित कर दिया है, बिना सामाजिक संगठन में तुलनात्मक परिवर्तन किए। समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि प्रौद्योगिकी परिवर्तनों के प्रभाव के फलस्वरूप संस्कृति का भौतिक पक्ष बदल जाता है। डब्लू बी. आगबर्न ने इसे सांस्कृतिक विडंबना माना है। संस्कृति के विभिन्न पक्षों में परिवर्तन की अलग-अलग दर चिंता अथवा तनाव उत्पन्न करती है जो सामाजिक विघटन की दशा के लिए उत्तरदायी है। अतः सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक विडंबना तथा सामाजिक विघटन सामाजिक समस्याओं के कारणों की व्याख्या करने में अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

सामाजिक समस्याओं में कारणात्मक तत्वों को समझनेके लिए तीन कारक महत्वपूर्ण है-

कारणात्मक स्थितियाँ बड़ी संख्या में होती है। मोटे तौर पर हम इनका दो समूहों में वर्गीकरण कर सकते हैं, एक जो व्यक्तियों में पाए जाते हैंऔर दूसरे जो सामाजिक वातावरण में मिलते हैं। सभी समस्याओं में सभी तत्व नहीं होते, अर्थात् प्रत्येक समस्या में कारणात्मक तत्व भिन्न होते हैं। सामाजिक समस्याएँ सामान्य कारणात्मक तत्वों को एक सशक्त आधार प्रदान करती है। सामाजिक समस्याएँ इस अर्थ में परस्पर संबंध और एक दूसरे पर निर्भर रहती है, वे संचित रूप से प्रोत्साहन और उत्तेजक होती है, अथवा वे एक दूसरे को विकसित एवं प्रोत्साहित करती है।

रेनहार्टने बतलाया है कि सामजिक समस्याओं के विकास में तीन तत्वों का उल्लेख कियाजाता है।

1) स्वार्थों और क्रियाओं का विभेदीकरण और गुणन: एक मशीन या जीवित प्राणी में जितने अधिक भाग होते हैंउतनी ही अधिक भागों में असंतुलन की संभग्नना होती है। मानव समाजों पर भी यह

बात लागू होता है, जहाँ विभिन्न व्यक्तियों, समुदायों, संस्थाओं और व्यवस्थाओं के स्वार्थों में टकराव के अवसर अधिक होते हैं। अस्पृश्यता, सांप्रदायिक दंगे और राजनीतिक अपराध ऐसी ही सामाजिक समस्याएँ है, जो विभिन्न जातियों और वर्गों के स्वार्थों के संघर्ष से उत्पन्न होती है।

2) सामाजिक परिवर्तन और सभ्यता के विकास की आवृति को त्वरित करना: यह वैज्ञानिक और मशीनी नवाचारों के बाहुल्य से संभव हुआ हैं। उदाहरण के लिए, मशीनों के नवाचारों ने रोज़गार के कई पुराने ढाँचों को समाप्त कर दिया है, जिसके परिणामस्वरूप लाखों लोगों को प्रवास करना पड़ा और इससे विभिन्न वर्गों में संघर्ष उत्पन्न हुए। इस प्रकार क्रांतिकारी आविष्कारों से उत्पन्न हुए संरचानात्मक और प्रकार्यात्मक कुसमायोजन कई सामाजिक समस्याओं को जन्म देतेहैं।

3) वैज्ञानिक विश्लेषण करने की मानव की विकसित अंतर्दुर्ष्टि : जब से मानव ने प्रकृति की गतिविधि का अध्ययन करने के लिए सामाजिक अंतर्दृष्टिविकसित की है उसके फलस्वरूप वे विषय, जो पहले साधारण समझे जाते थे, अब कई प्रकार की उन प्राकृतिक स्थितियों के कारणवश आवश्यक समझे जाते हैं, जो मानव और समाज को प्रभावित करते हैं।

राव तथा सेल्जनिक ने सामाजिक समस्याओं के पाँच कारणों का उल्लेख किया है वे निम्नलिखित हैं-

- जब किसी संगठित समाज के सदस्यों के सामाजिक संबंधों को व्यवस्थित करने की योग्यता समाप्त होने लगती है, तो सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।
- जब किसी समाज की संस्थाएँ विचलित होने लगती हैं तो सामाजिक समस्याएँ निर्माण होने लगती हैं।
- जब किसी समाज के लोग क़ानूनों का उल्लंघन करने लगते हैं तो सामाजिक समस्याएँ उभरने लगती हैं।
- जब लोगों की अपेक्षाओं का ढाँचा लड़खड़ाने लगता है तो सामाजिक समस्याएँ जन्म लेती हैं।
- जब समाज के मूल्यों का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तातंरण रूक जाता है तो सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होने लगती हैं।

पाल लैन्ड्रिस ने सामाजिक समस्याओं के निम्नलिखित चार कारण बताए हैं-

- व्यक्ति समायोजन में असफलता।
- सामाजिक संरचनाओं में दोष पैदा होना।
- संस्थागत समायोजन में असफलता।
- सामाजिक नीति में संस्थात्मक विलंबनाएँ।

2.3 सामाजिक समस्याओं के प्रकार

समाज जिन सामाजिक समस्याओं का सामना करता है सामान्यतः वह विविध स्वरूपों की होती हैं।

क्लेरैंस मार्शल केस ने (1964)सामाजिक समस्याओं के उत्पत्ति केचार आधार बताएँ है:

- वे जिनका कारण प्राकृतिक पर्यावरण के किसी पहलू में होता है
- जो संबंधित जनसंख्या की प्रकृति या उसके वितरण में अंतर्निहित होता हैं।
- जो कमज़ोर सामाजिक संगठन के कारण पैदा होती हैं।
- जो समाज के सांस्कृतिक मूल्यों के टकराव से बनती हैं।

जोन जे. केन (2005) ने अपनी किताब *The Skinheads and the Magical Recovery of Community* में सामाजिक समस्याओं को दो वर्गों में बाँटा है-

प्रकट सामाजिक समस्याएँ (Overt Social Problems) - प्रकट सामाजिक समस्या एक ऐसी सामाजिक दशा है, जिसके लिए राज्य या निजी एजेंसियों अथवा दोनों के द्वारा सामूहिक रूप से उपचारात्मक प्रयत्न किए जाते हैं, क्योंकि जनता को इसके प्रति जागरूक कर दिया जाता है और वह ऐसा विश्वास करने लगती है कि यह दशा समाज की मूल्य व्यवस्थाओं के अनुसार समाज के लिए खतरा है। बाल अपराध, मद्यपान, बेकारी, निर्धनता तथा जनसंख्या-वृद्धि आदि इसी श्रेणी में आती हैं।

प्रत्याश्रित सामाजिक समस्याएँ (Covert Social Problems) - प्रत्याश्रित सामाजिक समस्या वह है, जिसके लिए कोई उपचारात्मक सामूहिक कार्यवाही नहीं की गई हो, लेकिन जो फिर भी समाज के लिए खतरा है, कम-से-कम जनता के किसी खंड या समूह अथवा कई सुयोग्य अवलोकनकर्ताओं के मस्तिष्क में। प्रत्याश्रित सामाजिक समस्या भी एक वास्तविक समस्या है, परंतु वह उस समय तक सामाजिक समस्या के रूप में प्रतीत नहीं होती, जब तक कि उसके प्रति जनता में जागरूकता पैदा नहीं की जाती और उसके निवारण के लिए कोई सामूहिक कार्यवाही नहीं की जाती। हमारे देश में अस्पृश्यता सैकड़ों वर्षों तक एक प्रत्याश्रित सामाजिक समस्या के रूप में रही है, परंतु वर्तमान में यह एक प्रकट सामाजिक समस्या बन गई है, क्योंकि इसके प्रति अब जनता में जागरूकता पाई जाती है और इसके निवारण के लिए सामूहिक प्रयत्न किए जा रहे हैं।

फुलर और मेयर्स (1941) ने तीन प्रकार की समस्याएँ बतलाई हैं:

1) प्राकृतिक समस्याएँ:- यद्यपि समाज के लिए समस्याएँ होती हैं किंतु उनका कारण मूल्यसंघर्ष पर आधारित नहीं होता; उदा. बाढ़ और अकाल;

2) सुधारात्मक समस्याएँ:- इन समस्याओं के दुष्प्रभावों के बारे में आम सहमति है परंतु उनके समाधान के बारे में मतभेद हैं; उदाहरण के लिए- अपराध, गरीबी, मादक पदार्थों के सेवन का आदि होना।

3) नैतिक समस्याएँ:- इन समस्याओं की प्रकृति और कारणों के बारे में आम सहमति नहीं है; उदाहरणार्थ- जुआ और तलाक़।

सामाजिक समस्याओं के प्रकार को निम्न स्वरूपों में देख सकते हैं-

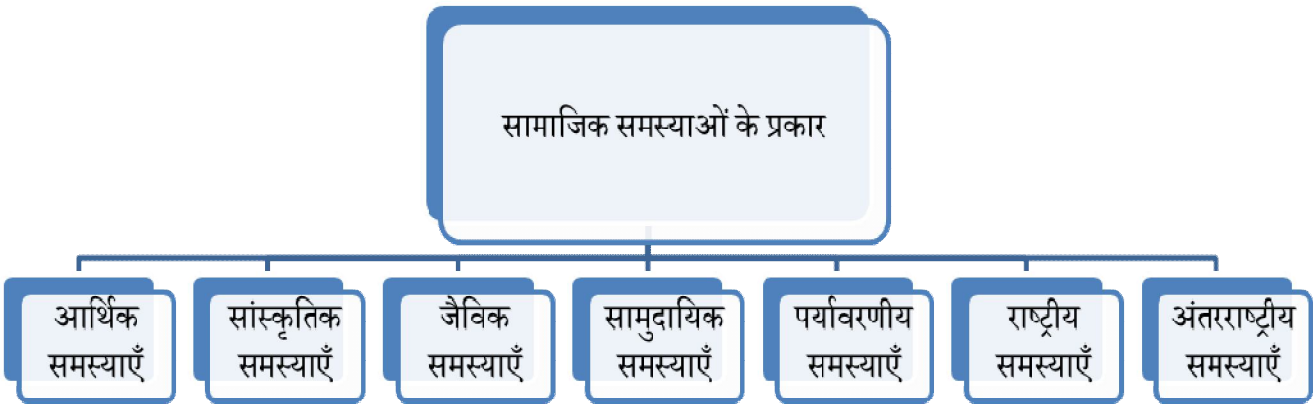

1) **आर्थिक समस्याएँ** :-

गरीबी- गरीबी वो स्थिति है, जिसमें एक परिवार जीने के लिए अपनी आधारभूत ज़रूरतों को पूरा करने में सक्षम नहीं होता है, जैसे- खाना, वस्त्र और घर। भारत में गरीबी विशाल स्तर पर फैली हुई स्थिति है। स्वतंत्रता के समय से, गरीबी एक प्रचलित चिंता का विषय है। 21वीं शताब्दी में गरीबी आज भी देश में लगातार बनी हुई है। भारत ऐसा देश है, जहाँ अमीर और गरीब के बीच बहुत व्यापक असमानता है। इसे ध्यान में रखा जाना चाहिए कि यद्यपि पिछले दो दशकों में अर्थव्यवस्था में प्रगति के कुछ लक्षण दिखाई दिए हैं, ये प्रगति विभिन्न क्षेत्रों या भागों में असमान हैं। वृद्धि दर बिहार और उत्तर प्रदेश की तुलना में गुजरात और दिल्ली में ऊँची हैं। लगभग आधी जनसंख्या के पास रहने के लिए पर्याप्त आवास नहीं हैं, स्वच्छता प्रणाली तक पहुँच, गाँवों में पानी का कोई स्रोत नहीं हैं साथ ही माध्यमिक विद्यालय भी नहीं है और न ही उपयुक्त रास्ते हैं। यहाँ तक कि दलितों की तरह ही समाज के कुछ वर्ग सरकार द्वारा नियुक्त संबंधित अधिकारी वर्ग द्वारा अनुरक्षित गरीबी सूची में शामिल भी नहीं किए गएहैं, वो समूह जो सामाजिक रूप से अलग रख दिए गए हैं।

योजना आयोग द्वारा जारी नवीनतम आंकड़ों के अनुसार गरीबी में भारी गिरावट आई है फिर भी प्रत्येक पाँच में से एक भारतीय आज भी गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहा है। बीपीएल जनसंख्या कुल जनसंख्या का 21.9 प्रतिशत है अर्थात् 27 करोड़ लोग बीपीएल हैं (ग्रामीण क्षेत्र में 27.20 रुपए और शहरी क्षेत्र में 33.30 रुपए) गरीबी के नवीतम अनुमानों के अनुसार यह महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति इस तथ्य के रूप में झलकी है कि ग्रामीण भारत ने शहरी भारत से अधिक तरक्की की है। ग्रामीण क्षेत्रों में बीपीएल जनसंख्या 2004-05 में 42 प्रतिशत थी, जो 2011-12 में लगभग 17 प्रतिशत घटकर 25.8 प्रतिशत रह गई है। इस अवधि में शहरी क्षेत्रों में बीपीएल जनसंख्या 12 प्रतिशत ही घटी थी। पूरे देश के आंकड़ों पर

गौर करें, तो वर्ष 2011-12 में ग्रामीण क्षेत्रों में 21.7 करोड़ और शहरी क्षेत्रों में 5.3 करोड़ गरीब रह रहे थे। 2004-05 में उनकी संख्या क्रमशः 32.6 और 8.1 करोड़ थी।

बेरोज़गारी- बेरोज़गारी एक सामाजिक-आर्थिक समस्या है, जो प्रायः सभी समाजों में देखी जा सकती है। वे सभी व्यक्ति जो काम करने के योग्य हैं, पर काम के अभाव में बेकार हैं, बेरोज़गार कहलाते हैं। यही बेरोज़गारी मनुष्य के आत्मविश्वास को समाप्त करती है तथा हीनता को जन्म देती है। बेरोज़गार व्यक्ति की सोच निराशावादी हो जाती है और उसके मन में समाज के प्रति आक्रोश उत्पन्न होने लगता है। यही आक्रोश सामाजिक असंतोष और विचलन का कारण बनता है। भारत में बेरोज़गारी की समस्या के अध्ययन, मापन तथा समाधान के उपाय के संबंध में1973 में बी. भगवती की अध्यक्षता में एक विशेष समिति की नियुक्ति की गई थी। जो पहल रोज़गारों के अधिकाधिक सृजन एवं बेरोज़गारी पर प्रत्यक्ष प्रहार की दृष्टि से पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में की गई थी, वह अन्य पंचवर्षीय योजनाओं से होते हुए वर्तमान 12वीं पंचर्षीय योजना (2012-2017) तक जारी है। 12वीं पंचवर्षीय योजना में गैर-कृषि में रोज़गार के 5 करोड़ नए अवसरों के सृजन का लक्ष्य रखा गया है।

राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन (NSSO) के निष्कर्षों के अनुसार भारत में बेरोज़गारी की दर में जुलाई 2011 से जून 2012 के मध्य वृद्धि हुई है। ग्रामीण क्षेत्रों में यह वृद्धि दर2 प्रतिशत तथा शहरी भारत में 3 प्रतिशत रही है। प्रत्येक 1,000 की जनसंख्या पर बेरोज़गारी का आँकड़ा 27 का है, जबकि दो वर्षों पूर्व या संख्या 25 पर थी। 1 जनवरी, 2010 को बेरोज़गार लोगों की कुल संख्या 98 लाख थी। 1 जनवरी, 2012 को बढ़कर 1.08 करोड़ हो चुकी थी। ग्रामीण क्षेत्रों में, पुरुषों तथा महिलाओं दोनों के ही लिए बेरोज़गारी की दर लगभग समान स्तर अर्थात 2 प्रतिशत पर है। किंतु शहरी क्षेत्रों में पुरुषों की अपेक्षा महिलाएँ अधिक बेरोज़गार हैं। महिलाओं के लिए यह दर5 प्रतिशत है तथा पुरुषों के लिए 2 प्रतिशत (टाइम्स ऑफ इंडिया, 23 जून,2013)।

बाल श्रम- बाल श्रम से आशय बच्चों द्वारा किसी भी काम को बिना किसी प्रकार का वेतन दिए कार्य कराना है। बाल श्रम केवल भारत तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वैश्विक स्तर पर फैला हुआ है। जहाँ तक भारत का संबंध है ये मुद्दा दोषपूर्ण है क्योंकि ऐतिहासिक काल से यहाँ बच्चें अपने माता-पिता के साथ उनकी खेतों और अन्य कार्यों में मदद करते हैं। अधिक जनसंख्या, अशिक्षा, गरीबी, ऋण-जाल आदि सामान्य कारण इस मुद्दे के प्रमुख सहायक हैं। ज़िम्मेदारी से दबें तथा ऋणग्रस्त माता-पिता अपनी परेशानियों के दबाव के कारण सामान्य बचपन के महत्व को नहीं समझ पाते हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भी बच्चों को कपड़ों का निर्माण करने वाली कंपनियों में काम करने के लिए रखती है और कम वेतन देती है जो बिल्कुल ही अनैतिक है। बाल श्रम वैश्विक चिंता का विषय है जो अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी व्याप्त है। बच्चों के अवैध व्यापार, पर रोक गरीबी का उन्मूलन, निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा और जीवन के बुनियादी मानक बहुत हद तक इस समस्या को बढ़ने से रोक सकते हैं। विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष

गरीबी के उन्मूलन के लिए विकासशील देशों को ऋण प्रदान करके मदद करता है। बहुराष्ट्रीय कंपनी और अन्य संस्थाओं द्वारा शोषण को रोकने के लिए श्रम कानूनों को सख्ती से लागू करना अनिवार्य है।

बाल श्रमिकों की समस्या राष्ट्र के लिए एक बड़ी चुनौती रही है। इस समस्या से निबटने के लिए सरकार अनेक अग्रसक्रिय कदम उठाती रही है। हालांकि यह समस्या अनिवार्य रूप से गरीबी एवं निरक्षता के साथ विशिष्ट रूप से जुड़ी हुई एक सामाजिक-आर्थिक समस्या है। महेंद्र प्रेमी (2011) ने अपनी किताब Population of India in the New Millennium Census 2011 में सन 2001 में कुल 102.9 करोड़ की जनसंख्या में से 36.40 लाख(35.35%) बच्चे थे,जिनकी आयु 14 वर्ष से कम थी। 5 से 14 वर्ष आयु समूह में लगभग25.60 लाख (24.60%) बच्चे थे। गरीब परिवारों के करोड़ों बच्चे अभी भी आर्थिक परिस्थितियों के कारण श्रमिक बल के साथ जुडने के लिए बाध्य कर दिए जाते हैं। अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन की एक नई रिपोर्ट,Making Progress Against child Labour (2013) कहती है कि बाल श्रमिक की सर्वाधिक बड़ी पूर्ण संख्या(7.80 करोड़) एशिया-प्रशांत मे पाई जाती है, उप-सहारा अफ्रीका में अभी भी बाल-श्रम की व्यापकता 21 प्रतिशत से अधिक पाई जाती है।

कृषि अभी तक सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र बना हुआ है, जहाँ बाल श्रमिकों (9.80 (59%) करोड़ बच्चों,) को पाया जा सकता है, किंतु अधिकांशतः अनौपचारिक अर्थव्यवस्था के अंतर्गत सेवाओं में(5.40 करोड़) तथा उद्योगों में (1.20 करोड़) भी संख्या नगण्य नहीं है । भारत में, राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन (NSSO) का अनुमान सुझाते हैं कि देशमें सन 2004-05 के दौरान 89 लाख के लगभग बाल श्रमिक थे, जिनकी श्रमशक्ति में सहभागिता की दर 3.4 प्रतिशत की थी।

बंधुआ मजदूर भारत में बहुत सी सामाजिक-आर्थिक बुराईयों में से एक बुराई बंधकमज़दूरीया बंधुआ मज़दूरीभी है। ये हमारे समाज में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है, दुर्भाग्यवश ये आज भी अपने विभिन्न रूपों में जारी है।बंधुआ श्रम प्रणाली के अंतर्गत एक व्यक्ति को उसके श्रम (मेहनत) के बदले में नाममात्र की या बिल्कुल भी मज़दूरीया वेतन नहीं मिलता है। इसे ऋणी बंधक केरूप में भी जाना जाता है, क्योंकि बंधुआ मजदूर की सामान्यतः ऋण के भुगतान के साधन के रूप में माँग की जाती है। वास्तव में इस अमानवीय प्रथा को अवैतनिक श्रम का लाभ उठाने के लिए एक चाल के रूप में शोषणकारी जमींदारों या साहूकारों द्वारा इस्तेमाल किया गया है।

बंधुआ मजदूर प्रणाली सामंती श्रेणीबद्ध समाज की मुख्य विशेताओं में से एक है। इस प्रणाली को सामाजिक और आर्थिक रूप से सक्षम समाज के कुछ शक्तिशाली वर्गों ने कमज़ोर वर्गों का शोषण करने के लिए तैयार किया था। ये व्यवस्था इस प्रकार कार्य करती है, जैसे- समाज के गरीब दलित या कमज़ोर वर्ग का कोई व्यक्ति अपनी जीविका को चलाने के उद्देश्य से साहूकार या जमींदारों से ऋण लेगा, जिसके बदले में उसे ये अवसर मिल जाएगा कि ऋणी के पास जो भी कुछ चल-अचल संपत्ति है, उसे बंधक के रूप में अपने पास रख ले और उस ऋणी को बिना किसी मज़दूरीया श्रम के उस देनदार के कहने के अनुसार कार्य करना पड़े। ये साहूकार ऋण की ब्याज दरों को इतना ऊँचा रखते हैं कि ऋणी मूलधन कभी

चुका ही नहीं पाता। वो लेनदार पीढ़ी-दर-पीढ़ी ऋणी रहेगा और उसका ऋण कभी भी चुकता नहीं हो पाता। इस तरह से बंधुआमज़दूरीका दुष्चक्र चलता रहता है।

1976 के बंधुआ मज़दूरी अधिनियम में बंधुआ मज़दूरी प्रथा को इस प्रकार परिभाषित किया गया है- बाध्य मज़दूरीकी यह प्रथा, जिसके अंतर्गत एक कर्ज लेने वाले ऋणदाता को अपनी सेवाएँ या परिवार के किसी अन्य सदस्य की सेवाएँ या अन्य किसी व्यक्ति की सेवाएँ, जो उसका आश्रित हो, अर्पित करता है। यह सेवाएँ निश्चित या अनिश्चित समय के लिए होगी तथा उसके बदले में वह या तो पारिश्रमिक नहीं लेगा या मामूली परिश्रमिक लेगा, जो ऋण या किसी प्रकार के आर्थिक आधार के रूप में प्राप्ति के बदले में होगा, या जो उसके द्वारा या उसके किसी पूर्वज द्वारा लिया गया हो, या फिर किसी सामाजिक दायित्व निर्वाह करने के लिए किया जाना हो। इस समझौते के अन्य परिणाम भी होते, जैसे-ऋण लेने वाले को रोज़गार करने की स्वतंत्रता से रोक, देश के किसी भाग में आने जाने की स्वतंत्रता सेवंचित रहना, और संपत्ति के किसी भाग को या अपने श्रम उत्पाद को बाजार मूल्य पर बेचने के अधिकार से वंचित रहना।

बंधुआ मज़दूरी की पीड़ा की जातीय कहानी हिंदू (19 सितंबर 2012 में प्रकाशित) अखबार में सामने आई। एक व्यक्ति ने स्वयं को और अपनी पत्नी को बंधुआ मजदूर के रूप में मात्र रु45,000 के ऋण के एवज में बेच दिया। यह ऋण 4 वर्ष गांव के भूमालिक से लिया था। वह कार्यक्षेत्र में निर्दयता के कारण मर गया और उसका कर्जा चुकाना बाकी था। अतः उसकी पत्नी को जाति तब तक से बाहर कर दिया गया, जब तक उसने कर्जा नहीं चुकाया।

2) सांस्कृतिक समस्याएँ

बाल विवाह:-संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार, भारत बाल विवाह की दूसरी बड़ी संख्यारखता है। शादी को दो परिपक्व (बालिग) व्यक्तियों की आपसी सहमति से बना पवित्र मिलन माना जाता है, जो पूरे जीवनभर के लिए एक-दूसरे की सभी जिम्मेदारियों को स्वीकार करने केलिए तैयार होते हैं। इस संदर्भ में बाल विवाह का होना अनुचित प्रथा है। बाल-विवाह बचपन की मासूमियत की हत्या है। भारतीय संविधान में बाल-विवाह के खिलाफ कई कानूनों और अधिनियमों का निर्माण किया गया है। बाल विवाह निरोधक अधिनियम 1929 पहला कानून था, जिसे जम्मू-कश्मीर को छोड़कर पूरे भारत में लागू किया गया था। ये अधिनियम बालिग लड़के और लड़कियों की उम्र को परिभाषित करता है। 1954 में विशेष विवाह अधिनियम ने सिविल मैरिज की आयु लड़कों और लड़कियों के लिए क्रमशः 21 और 18 वर्ष निश्चित की। इसके साथ ही नाबालिग के साथ यौन संबंध भारतीय दंड संहिता(इंडियन पैनल कोड) की धारा 376 के अंतर्गत एक दंडनीय अपराध है। इस मुख्य परिवर्तन के लिए उचित मीडिया संवेदीकरण की आवश्यकता है। वहीं दूसरी तरफयह माना गया है कि बाल विवाह को जड़ से खत्म करने, वास्तविक प्रयासों, सख्ती के कानून लागू करने के साथ ही अभी भी लगभग 50 साल लगेंगे, तब जाकर कहीं परिदृश्य को बदला जा सकता है।

सांस्कृतिक स्तर की सामाजिक समस्याओं में तलाक़ बाल अपराध, दहेज, भाग्यवाद, पितृसत्ता समस्याओं को देखा जा सकता है।

3) जैविक समस्याएँ

समलैंगिकता- भारत में आज भी समलैंगिकता को निषेध माना जाता हैं। आज भारत प्रभावशाली वृद्धि दर के साथ तेज़ी से विकास करने वाला विकासशील देश है। लेकिन क्या वृद्धि दर ही भारत के विकासशील देश होने का दावा करने के लिए पर्याप्त है? एक राष्ट्र की विशेषता इस बात में भी निहित है कि वो अपने देश के लोगों से कैसे व्यवहार करता है। इस विशेषाधिकार के संदर्भ में भारत का समलैंगिकता के मुद्दे पर रवैया निश्चित ही उचित नहीं है। समलैंगिकता समाज के कई वर्गों में एक बीमारी मानी जाती है और समाज में बहुत कम वर्ग हैं, जो समलैंगिकता को स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि समलैंगिकता भारत में दंडनीय अपराध की श्रेणी में आता है। समलैंगिकता 1861 के कानून की तरह आज भी भारतीय दंड संहिता की धारा 377 के अंतर्गत एक दस साल के कारावास के साथ दंडनीय अपराध है, जिसने सभी लोगों को ये विश्वास करना कठिन बना दिया है कि भारत एक विकासशील राज्य है और हम 21वीं सदी के निवासी हैं। यद्यपि ये विषय 2009 में प्रकाश में आया था, जब दिल्ली हाई कोर्ट ने दो वयस्कों की परस्पर सहमति से बनाए गए समलैंगिकता को कानूनी मान्यता दे दी थी कि इसे दंडनीय अपराध बनाया जाना मौलिक मानवाधिकारों के उल्लंघन करने का रास्ता देना है जिसके परिणाम स्वरूप समलैंगिकता अधिकार को प्रेरक शक्ति संघर्ष के रूप में संस्थाएँ अस्तित्व में आई।
2013 में सुप्रीम कोर्ट ने इस मामले पर दिल्ली उच्च न्यायालय के फैसले को खारिज करके समलैंगिकता को गैर-कानूनी बनाकर एक विवादस्पद आदेश पारित कर दिया। जनवरी 2014 में, सुप्रीम कार्ट ने अपने आदेश में समलैंगिकता को आपराधिक घोषित करने के खिलाफ याचिकाओं की समीक्षा करने सेमना कर दिया। इस पर कोई टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है कि मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करने वाले इस फैसले की अंतरराष्ट्रीय स्तर पर आलोचकों का ध्यान अपनी ओर खींचा। संक्षेप में समलैंगिकता के लिए देश और देशवासियों दोनों को सहिष्णु होना आवश्यक है। ये कोई बीमारी नहींहै न ही इसके इलाज की आवश्यकता है।

लैंगिक असमानता- 'लिंग' सामाजिक-सांस्कृतिक शब्द हैं। जो सामाजिक परिभाषा से संबंधित करते हुए समाज में 'पुरुषों' और 'महिलाओं' के कार्यों और व्यवहारों को परिभाषित करता हैं, जबकि, 'सेक्स' शब्द 'आदमी' और 'औरत' को परिभाषित करता है, जो एक जैविक और शारीरिक घटना है। अपने सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पहलुओं में लिंग, पुरुष और महिलाओं के बीच शक्ति के कार्य के संबंध हैं जहाँ पुरुष को महिला से श्रेष्ठ माना जाता हैं। इस तरह, 'लिंग' को मानव निर्मित सिद्धांत समझना चाहिए, जबकि 'सेक्स' मानव की प्राकृतिक या जैविक विशेषता हैं।
लिंग असमानता को सामान्य शब्दों में इस तरह परिभाषित किया जा सकता हैं कि, लैंगिक आधार पर महिलाओं के साथ भेदभाव। समाज में परंपरागत रूप से महिलाओं को कमज़ोर जाति/वर्ग के रूप में माना

जाता हैं। वह पुरुषों की एक अधीनस्थ स्थिति में होती है। वे घर और समाज दोनों में शोषित, अपमानित, अक्रमित और भेद-भाव से पीड़ित होती हैं। महिलाओं के खिलाफ भेदभाव का ये अजीब प्रकार दुनिया में हर जगह प्रचलित है और भारतीय समाज में तो बहुत अधिक है।

लैंगिक असमानता भारत की विभिन्न वैश्विक लिंग सूचकांकों में खराब रैंकिंग को प्रदर्शित करती हैं।

- यूएनडीपी के लिंग असमानता सूचकांक- 2014: 152 देशों की सूची में भारत की स्थिति 127वें स्थान पर हैं। सार्क देशों से संबंधित देशों में केवल अफगानिस्तान ही इन देशों की सूची में ऊपर हैं।
- विश्व आर्थिक मंच के वैश्विक लिंग अंतराल सूचकांक- 2014: विश्व के 142 देशों की सूची में भारत 114वें स्थान पर हैं। ये सूचकांक में चार प्रमुख क्षेत्रों में लैंगिक अंतर की जाँच करता हैं

- आर्थिक भागीदारी और अवसर।
- शैक्षिक उपलब्धियाँ।
- स्वास्थ्य और जीवन प्रत्याशा।
- राजनीतिक सशक्तिकरण।

इन सभी सूचकाकों के अंतर्गत भारत की स्थिति इस प्रकार हैं

- आर्थिक भागीदारी और अवसर – 134।
- शैक्षिक उपलब्धियाँ – 126।
- स्वास्थ्य और जीवन प्रत्याशा – 141।
- राजनीतिक सशक्तिकरण – 15।

ये दोनों वैश्विक सूचकांक लिंग समानता के क्षेत्र में भारतकी खेदजनक स्थिति को प्रदर्शित करते हैं। बस केवल राजनीतिक सशक्तिकरण के क्षेत्र में भारत की कार्य सराहनीय हैं, लेकिन अन्य सूचकाकों में इसकी स्थिति बहुत खेदजनक हैं और इस स्थिति में सुधार करने के लिए बहुत अधिक प्रयास करने की जरूरत हैं।

जैविक स्तर की सामाजिक समस्याओं मेंसंक्रामक रोग, आहार-विषाक्तता आदि समस्याओं को देखा जा सकता है।

4) सामुदायिक समस्याएँ

अस्पृश्यता या छुआछूत- अस्पृश्यता या छुआछूत परंपरागत हिंदू समाज से जुड़ी सामाजिक बुराई और एक गंभीर खतरा है। ये बहुत से समाज सुधारकों के विभिन्न प्रयासों के बाद भी जैसे डॉ भीमराव अंबेडकर और उनके द्वारा निर्मित संविधान के अनुच्छेद17 में अस्पृश्यता के उन्मूलन के बावजूद ये अति प्राचीन समय से प्रचलित प्रथा आज भी प्रचलन में है।

छूआछूत (अस्पृश्यता) क्या है?

अस्पृश्यता या छूआछूत एक सामान्य शब्द है, जिसे अभ्यास द्वारा समझा जा सकता है। इसमें एक विशेष जाति या वर्ग के व्यक्ति को निम्न जाति में जन्म लेने या उस निचली जाति समूह से संबंध रखने के कारण

उस समूह से निचले स्तर के कार्यों को कराकर भेदभाव किया जाता है। उदाहरण के लिए- तथाकथित ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उच्च जाति के लोग नीची जाती के साथ बैठकर भोजन नहीं कर सकते। ये मान्यता है कि अस्पृश्य या अछूत लोगों से छूने, यहाँ तक कि उनकी परछाई भी पड़ने से उच्च जाति के लोग अशुद्ध हो जाते हैंऔर अपनी शुद्धता वापस पाने के लिए उन्हें पवित्र गंगाजल में स्नान करना पड़ता है।

भारत में अस्पृश्य या अछूत कौन है?

हिंदूओं की परंपरागत प्राचीन"वर्ण-व्यवस्था" के अनुसार, एक व्यक्ति का जन्म कर्म और 'शुद्धता' के आधार पर चारों में से किसी एक जाति में होता है। जिनका जन्म ब्राह्मण वर्ण में होता है वो पुजारी या शिक्षक होता है, क्षत्रिय कुल में जन्म लेने वाला शासक या सैनिक वैश्य वर्ण में जन्म लेने वाला व्यापारी और शूद्र वर्ण में जन्म लेने वाला मजदूर होता है।

अछूत सचमुच बहिष्कृत जाति है। वो किसी भी हिंदूओं की परंपरागत"वर्ण व्यवस्था" में सीधे रूप से गिनती में नहीं आते। डॉ. भीमराव अंबेडकर के अनुसार, अछूत पूरी तरह से नया वर्ग है। उदाहरण के तौर पर पहले से स्थापित चार वर्णों से अलग पाँचवा नया वर्ण है। इस प्रकार, अछूत हिंदूओं की जाति व्यवस्था में पहचाने नहीं जाते।अस्पृश्यता दंड़ के रूप में भी दी जाने वाली प्रथा थी, जो उन व्यक्तियों को दी जाती थी, जो समाज के बनाए हुए नियमों को तोड़कर सामाजिक व्यवस्था में बाधा उत्पन्न करते थे। हमारे समाज में जाति और जन्म की श्रेष्ठता की भावना आज भी उपस्थित है। हम अपने जीवन में प्रतिदिन चारों तरफ के वातावरण में विशेषरूप से ग्रामीण और कस्बों में छुआछूत के व्यवहार का अनुभव करते हैं। यहाँ तक कि बड़े शहरों में भी कूड़े बीनने वालों से आज भी अमानवीय व्यवहार किया जाता है। प्रेस ट्रस्ट ऑफ इंडिया (पी.टी.आई.) की 3 जनवरी 2014 की सूचना के अनुसार, कर्नाटक पुलिस ने 4 चाय विक्रेताओं को छुआछूत को व्यवहार में लाने के लिए गिरफ्तार किया, वो हिंदू और एससी. और एस.टी. जाति के लोगों को चाय देते समय अलग-अलग तरह के कपों का प्रयोग करते थे। ये घटना दिखाती है कि ये बुराई हिंदू समाज में इतनी गहराई तक पहुँची हुई है कि आज़ादी के 67 साल के बाद भी अलग-अलग रूपों में उपस्थित है।

दलित या अस्पृश्यों के साथ भेदभाव के प्रकार

नेशनल कैंपेन ऑफ दलित ह्यूमैन राइट्स(एन.सी.डी.एच.आर.) के अनुसार, भारत में दलितों के खिलाफ विभिन्न प्रकार के भेदभाव किए जाते हैं जो निम्नवत हैं :

- अन्य जाति के लोगों के साथ भोजन करना निषेध
- किसी अन्य जाति के सदस्य के साथ शादी करना निषेध
- गाँवों में चाय के ठेलों पर दलितों के लिए चाय के अलग गिलास
- होटलों में बैठने की व्यवस्था में भेदभाव और खाने के लिए अलग बर्तन
- गाँवों में त्योहारों और कार्यक्रमों में बैठने और खाने की अलग व्यवस्था
- मंदिरों में प्रवेश पर निषेध

- शासित जाति के व्यक्तियों के सामने पैरों में चप्पल पहनने और छाता लगाने पर निषेध
- गाँवों में सार्वजनिक रास्ते पर चलना निषेध
- अलग श्मशान (जहाँ मरे हुए व्यक्तियों को जलाया जाता है)
- स्कूलों में दलित बच्चों के लिए अलग बैठने की व्यवस्था
- अपने कामों को करने से मना कर देने पर शासित जातियों द्वारा सामाजिक बहिष्कार का सामना करना।

जातिवाद- जाति व्यवस्था यह एक सामाजिक-सांस्कृतिक समस्या है, इसमें अपनी जाति विशेष के प्रति निष्ठा, जाति-भक्ति एवं स्वजातिकेंद्रवाद का भाव जातिवाद को जन्म देता है। जातिवाद में अपनी स्वयं की जाति या समुदाय को श्रेष्ठ तथा अन्य को दोयम समझने की मनोवृत्ति पाई जाती है। जातिवाद भारत में परंपरागत वर्ण-व्यवस्था के अपभ्रंश स्वरूप अस्तित्व में आई जाति प्रणाली के नकारात्मक प्रभावों तथा अंतरजातीय तनावों का परिणाम है। जाति-व्यवस्था भारतीय समाज की एक विशिष्टता कही जा सकती है। इस व्यवस्था का प्रारंभ 'कार्य-व्यवस्था' और 'श्रम विभाजन' के सिद्धांतों के आधार पर हुआ, परंतु वह एक 'वर्गीकृत समाज' का आधार बन गई। प्रो. रजनी कोठारी कहते हैं कि भारतीय परंपरागत समाज में, सामाजिक वर्गीकरण में उच्च वर्ग सदैव प्रभुत्व की स्थिति में रहता था और यह प्रभुत्व उसकी संख्या से संबंद्ध नहीं था। विदेशी शासकों ने भी जाति व्यवस्था को अक्षुण्ण रखा, यद्यपि स्वतंत्रता सेनानियों ने समाज सुधार के कार्यक्रम में जाति व्यवस्था के सुधार को सर्वोपरि स्थान दिया। डॉ अंबेडकर को संविधान सभा में दिया गया सम्माननीय स्थान और गांधीजी के दलितोद्धार के कार्यक्रम उसी सुधारवाद के परिणाम थे। उस समय नेताओं ने यह स्वीकार किया कि जातिव्यवस्था सामाजिक कल्याण का माध्यम न रह कर सामाजिक प्रगति के मार्ग की बेड़ी और सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग एक बड़ी बाधा है।

जातिवाद या जाति भक्ति एक जाति के सदस्यों की वह संकुचित भावना है, जो समाज या राष्ट्र के सामान्य हितों का ध्यान रखते हुए अपनी ही जाति के अन्य सदस्यों के हितों को बढ़ावा देने, उनकी सामाजिक स्थिति को उन्नत करने और उन्हें आगे बढ़ाने के अवसर प्रदान करने के लिए प्रेरित करती है। जातिवाद वह भावना है, जो एक जाति के सदस्यों को अपनी ही जाति वालों के उत्थान, एकता एवं सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने में मदद करती है। इस भावना के कारण एक जाति के सदस्यों की निष्ठाएँ अपनी जाति के लोगों तक केंद्रित हो जाती है, वे अपनी जाति के क्षुद्र स्वार्थ के दृष्टिकोण से ही सोच पाते हैं। उनमें अपनी जाति वालों के प्रति तो अपनेपन की भावना पाई जाती है, परंतु अन्य जाति वालों के प्रति पराएपन की भावना होती है। यह प्रवृत्ति जातीय तनाव व सांप्रदायिकता की पोषक एवं राष्ट्रीय एकता में बाधक है।

सांप्रदायिकता- सांप्रदायिकता या संप्रदायवाद (Communalism) समुदायों में विद्यमान विद्वेष, तनाव, संदेह या संघर्ष के भाव को व्यक्त करता है। यह तनाव सामान्यतः धर्म या पंथ, संप्रदाय, भाषा, प्रजाति, या

नृजाति के तत्वों पर आधारित होता है। सांप्रदायिकता एक ऐसी विचारधारा है जिसमें किसी धर्म, संप्रदाय या पंथ के आधार पर समूह विशेष के हितों पर बल दिया जाता है तथा उन हितों को राष्ट्रीय हितों से भी अधिक प्राथमिकता दी जाती है। अपने स्वयं के धर्म, संप्रदाय या पंथ के प्रति निष्ठा भक्ति एवं समर्पण और अन्य धर्मों, सम्प्रदायों या पंथों के प्रति कटुतापूर्ण मनोवृत्ति सांप्रदायिकता को जन्म देतीहै। धार्मिक विश्वास के संबंध में इस संकीर्ण मानसिकता के लिए स्वहितकेंद्रितता की भावना उत्तरदायी है जिसमें अपने अपने धर्म या संप्रदाय विशेष के ही हितों पर बल देती है। यह संकीर्ण मनोवृत्ति नस्लवाद, विरोधवाद एवं फासीवाद से मेल खाती है।

विसेंट स्मिथ (1848-1920) के अनुसार सांप्रदायिकता की विचारधारा में व्यक्ति या समूह प्रत्येक धार्मिक समूह को एक पृथक सामाजिक-राजनीतिक इकाई मानता है, जिसके हित अन्य समूहों के हितों से अलग एवं विरोधी होते हैं। इस प्रकार संप्रदायवाद के लिए पृथकवादी मनोवृत्ति उत्तरदायी है। भारत में1905 में बंगाल विभाजन के साथ सांप्रदायिक राजनीति का सूत्रपात हुआ। इसके बाद अग्रेजों की'फूट डालो-राज करो' नीति के तहत सांप्रदायिक आधार पर पृथक चुनावव्यवस्था (1909 का मार्ले-मिन्टो अधिनियम) एवं लखनऊ करार (1916) ने देश में सांप्रदायिक राजनीति को स्थापित करअंततः इसका विभाजन कर दिया। जी. एल. शर्मा (2015) ने देश में संप्रदायवाद के लिए उत्तरदायी प्रमुख कारणों का उल्लेख अपनी किताब सामाजिक मुद्दे में किए है, वे निम्नवत है-

1. ऐतिहासिक कारक (Historical Factors)
2. सांस्कृतिक भिन्नता (Cultural Differences)
3. धार्मिक असहिष्णुता (Religious Intolerance)
4. भौगोलिक कारक (Geographical Factors)
5. मनोवैज्ञानिक कारक (Psychological Factors)
6. सांप्रदायिक संगठन(Communal Organizations)
7. राजनीतिक स्वार्थ (Political Interest)

सांप्रदायिकता को बढ़ावा देने में समाज-विरोधी तत्वों एवं निहित स्वार्थ साधकों का भी महत्वपूर्ण हाथ होता है। समाज में कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो तनाव एवं संघर्ष की स्थिति पैदा करते हैं, जिससे उन्हें लूटपाट करने एवं हिंसा करने का अवसर प्राप्त होता तथा वे अपने व्यक्तिगत झगड़ों का बदला ले सकें। ऐसे लोग होली,दीवाली, रामनवमी, मुहर्रम, ईद आदि के अवसर पर जुलूस आदि पर पत्थर फेंकने, रंग, छिड़कने, आग लगा देने आदि का कार्य करते हैं, जिससे उपद्रव होता है।

उपर्युक्त सभी कारक इस बात को स्पष्ट करते हैं कि भारत में सांप्रदायिकता अनेक सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक एवं राजनीतिक कारकों का मिश्रित फल है, आज इसकी जड़ें गहराई में जम चुकी हैं, जिसे उखाड़ फेकने के लिए सच्ची सेक्युलर भावना और प्रबल राजनीतिक इच्छा-शक्ति के साथ दृढ़ संकल्प, सच्चाई और ईमानदारीपूर्वक प्रयासों कि आवश्यकता है।

5) पर्यावरणीय समस्याएँ:-

आजकल सामाजिक-आर्थिक विकास, पर्यावरण, निर्धनता, प्रदूषण व मानवीय विकास के परस्पर संबंधों पर बहुत ध्यान दिया जा रहा हैं। सामाजिक विकास के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता व सफाई, आवास, पेयजल, पर्याप्त आय आदि पर बल दिया जाने लगा है। स्थायी सामाजिक विकास के लिए पर्यावरण की सुरक्षा एवं विकास पर उचित एवं पर्याप्तरूप से ध्यान देना होगा। यह सर्वविदित है एवं विभिन्न सामाजिक तथा प्राकृतिक वैज्ञानिकों का निष्कर्ष है कि अगर किसी भी प्रकार का विकास कार्यक्रम अथवा योजना पर्यावरण को क्षति पहुँचता है, तो ऐसा विकास स्थायी, सुस्थिर एवं हानि रहित नहीं हो सकता। ऐसा विकास भविष्य में समाज और मानव पर घातक प्रभाव डालता है। औद्यागीकरण की दौड़ में पर्यावरण की कीमत पर संसाधनों का दोहन और आर्थिक विकास जलवायु परिवर्तन एवं पर्यावरण समस्याओं के लिए उत्तरदायी हैं।

पर्यावरण संबंधी समस्याओं में विविध प्रकार के अनेक समस्याएँ शामिल होती हैंइनमें से महत्त्वपूर्ण एवं संवेदनशील निम्नलिखित है-

- पर्यावरण प्रदूषण(Environmental Pollution)
- जलवायु परिवर्तन (Climate Change)
- जैव-विविधता (Biodiversity)
- ग्लोबल वार्मिंग (Global Warming)
- ग्रीन हाउस प्रभाव (Green House Effect)
- ओजोन पार्ट का क्षय (Ozone Layer Depletion)
- कोप-19 (Cop-19 Conference)

6) राष्ट्रीय समस्याएँ

अशिक्षा/असाक्षरता- स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत भारत ने विरासत में एक ऐसी शिक्षा प्रणाली को प्राप्त किया, जो व्यापक पैमाने पर तथा अंतरक्षेत्रीय असंतुलनों से युक्त थी। इस शिक्षा प्रणाली द्वारामात्र कुछ ही लोगों को शिक्षित किया जा रहा था, जिससे शिक्षित तथा निरक्षर लोगों की संख्या के बीच का अंतर बहुत अधिक बढ़ रहा था। सन 1947 में देश की साक्षरता की दर मात्र 14 प्रतिशत की थी तथा महिला साक्षरता अपने निम्नतम कम होते हुए 8 प्रतिशत पर थी। अशिक्षा वो स्थिति है, जो राष्ट्र के विकास पर एक धब्बा बन गई है। भारत बहुत बड़ी अशिक्षित जनसंख्या को धारण करता है। भारत में अशिक्षा वो समस्या है, जो इससे जुड़े बहुत से जटिल परिणाम रखती है। भारत में अशिक्षा लगभग देश में विद्यमान असमानताओं के विभिन्न रूपों के साथ संबंधितहैं। देश में व्याप्त असाक्षरता की दर लिंग असंतुलन, आय असंतुलन, राज्य असंतुलन, जाति असंतुलन, तकनीकी बाधाएँ आदि को आकार दे रही हैं। भारत सरकार ने असाक्षरता के खतरे का मुकाबला करने के लिए बहुत सी योजनाओं को लागू कियालेकिन

स्वच्छता की घटिया परिस्थितियों, महंगी निजी शिक्षा, दोषपूर्ण मिड-डे मील योजना के कारण अशिक्षा अभी भी अस्तित्व में हैं। केवल सरकार को ही नहीं बल्कि प्रत्येक साक्षर व्यक्ति को भी असाक्षरता के उन्मूलन को व्यक्तिगत लक्ष्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए। सभी साक्षर व्यक्तियों द्वारा किए गए सभी प्रयास इस खतरे के उन्मूलन में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं।

सन 2011 की जनगणना के अस्थायी आंकड़ों के अनुसार भारत के 26 प्रतिशत अथवा कुल 27,27,50,015 लोग अभी भी निरक्षर हैं। सन 2001 में कुल जनसंख्या का 35 प्रतिशत निरक्षर था। इस प्रकार गत दशक के दौरान निरक्षरों की कुल संख्या में 3,11,96,847 की कमी आ गई। इस गिरावट में सर्वाधिक योगदान उत्तर प्रदेश तथा जिसके बाद बिहार का स्थान था। इन दोनों राज्यों का एक साथ मिलकर कुल 37.43 प्रतिशत की गिरावट का योगदान रहा है। निरक्षरों की संख्या में भारी कमी का प्रदर्शन करने वाले अन्य राज्य हैं क्रमशः पश्चिम बंगाल (9.44%), गुजरात (7.60%), महाराष्ट्र (7.15%),कर्नाटक (6.00%), तमिलनाडु (5.82%), ओडिशा (5.80%), आंध्र प्रदेश (4.87%) तथा झारखंड (3.18%), छतीसगढ़ (0.81%), मध्य प्रदेश (0.80%)।

राम आहूजा ने अपनी किताब **सामाजिक समस्याएँ** में निरक्षरता के निम्न कारणों का उल्लेख किया है -

- ❖ साक्षरता प्राप्त कर रही जनसंख्या की निम्नदर के सापेक्ष जनसंख्या विकास की ऊँची दर
- ❖ छात्रों का नामांकन करने एवं उन्हें रोके रखने में प्राथमिक विद्यालयों का निष्प्रभावी होना
- ❖ निम्न-वर्गीय लोगों का या तो धनार्जन के लिए अथवा परिवार में शिशुओं की देखभाल के लिए बड़े बच्चों की सेवाओं का उपयोग करने संबंधी पारंपरिक दृष्टिकोण़बजाय इसके कि उन्हें विद्यालय भेजा जाए
- ❖ गरीबी का उच्च स्तर
- ❖ शिक्षा के विस्तार के लिए औपनिवेशिक शासकों की शिक्षा संबंधी गैर्अनुकूल नीतियाँ तथा शिक्षा के लिए कम धन का आबंटन किया जाना।

क्षेत्रवाद-क्षेत्रवाद में क्षेत्रीय भावनाएँ, क्षेत्र-भक्ति, क्षेत्रीयता एवं स्वहित केंद्रीयवाद की भावना प्रबल रूप से काम करती है। साथ ही हम देखते है कि भारतीय राजनीति क्षेत्रीय दलों के विकास तथा गठबंधन सरकारों के दौर में क्षेत्रवाद तेज़ी से उभरा है। क्षेत्रवाद संकीर्ण विचारों पर आधारित सीखा हुआ व्यवहार है, जिसके कई ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक, राजनीतिक एवं मनोवैज्ञानिक कारण भी है। इसके परिणाम स्वरूप क्षेत्रवाद पृथकता की माँग, स्वायत्तता की माँग, विभिन्न आंदोलन, संघर्ष एवं तनाव पनपते हैं, जो अंतरराज्यीय विवादों को भी उत्पन्न करते हैं, जैसे-पृथक तेलंगाना राज्य बनने के बाद देश में कई नए राज्यों की माँग ज़ोर पकड़ रही है- विदर्भ,मराठवाडा,हरित प्रदेश, पूर्वांचल, बुंदेलखंड़ गोरखालैंड, बोड़ोलैंड, कामतापुर, विंध्य प्रदेश,सौराष्ट्र, मिथिला, कुर्ग, कोसल, तुलूनाडू इत्यादि।

राष्ट्रीय स्तर की सामाजिक समस्याओं में भाषावाद, नक्सलवाद,राष्ट्रीय संपत्ति के प्रति उपेक्षा,जैव-विविधता पर खतरा, पर्यावरण प्रदूषणआदि समस्याओं को देखा जा सकता है।

7) अंतरराष्ट्रीय समस्याएँ

आतंकवाद- आतंकवाद का आशय ऐसी विचारधारा से है जो भय या डर पैदा करके अपने उद्देश्यों की प्राप्ति करने वाली है। आतंकवाद आज एक राजनीतिक, धार्मिक एवं वैश्विक समस्या के रूप में सर्वत्र मौजूद है। संयुक्त राष्ट्र महासभा के वर्ष2000 में हुए 55 वें अधिवेशन में अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद पर अभिसमय का ड्राफ्ट तैयार किया गया, जिसके अनुच्छेद 2(1) के अनुसार- किसी राज्य के विरुद्ध किया गया कोई भी आपराधिक कृत्य, जो आम लोगों या समूहों में आतंक या गम का वातावरण निर्मित करता है, आतंकवाद है। इसमें किसी की मृत्यु-चोट, निजी या सार्वजनिक संपत्ति की हानि शामिल है। पहला आतंकी हमला जुलाई 1946 में जेरूसलम का माना जाता है, जिसमें 100 से अधिक लोग मारे गए। आतंकवाद आज पूरे विश्व की सुखशांति के लिए खतरा बना हुआ है। इसके कई स्वरूप देखे जा सकते हैं- एथनो-नेशनलिस्ट टेरेरिस्ट, धार्मिक आतंकवाद, वैचारिक आतंकवाद, राज्य प्रायोजित आतंकवाद, नारको आतंकवाद, पर्यावरण आतंकवाद, साइबर आतंकवाद एवं आत्मघाती आतंकवाद। भारत में आतंकवाद नियंत्रण हेतु टाडा, पोटा जैसी कानून बनाए गए, लेकिन अब गैर-कानूनी गतिविधि नियंत्रण अधिनियम को संशोधित कर प्रभावी बनाया जा रहा है।

आतंकवाद किसी देश विशेष की गई विध्वंसात्मक कार्यवाही नहीं, बल्कि संपूर्ण मानव सभ्यता के विरुद्ध की गई कार्यवाही है। इसको प्रश्रय देने का अर्थ होगा विश्व समुदाय के अस्तित्व पर संकट। अतः आज जरूरत है कि मानवाधिकारों की रक्षा एवं वैश्विक शांति व्यवस्था की स्थापना में आतंकवाद के विरुद्धपूरा विश्व एकजुट होकर इस अंतरराष्ट्रीय समस्या से लड़ने के लिए वचनबद्ध हो। तभी हम मानव सभ्यता को नष्ट होने से बचा सकते हैं और एक विश्व व्यवस्था कायम कर सकते हैं, जिसमें प्रत्येक राष्ट्र को बिना डर अपने स्वतंत्र विकास की उन्मुक्तियाँ होगी।

अंतरराष्ट्रीय स्तर की सामाजिक समस्याओं में कालाधन, प्रवसन,पर्यावरण प्रदूषण आदि जैसी अन्य प्रकारों की भी समस्याओं को देखा जा सकता है।

2.4 सारांश

इस इकाई में हमने सामाजिक समस्या के कारणों एवं उसके प्रकारों के विभिन्न आयामों को समझा, जिसमें विभिन्न विद्वानों द्वारा बताए कारणों को देखा साथ ही कारणात्मक तत्वों एवं समस्या विकास के तत्वों को समझने का प्रयास भी किया गया है। सामाजिक समस्या के आर्थिक, सांस्कृतिक, जैविक, सामुदायिक, पर्यावरणीय, राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय समस्याओं के प्रकारों की विस्तार से बात की है। बेहतर होगा कि समाज कार्य के विद्यार्थी अपनी आस-पास कि समस्याओं के कारणों एवं प्रकारों का आंकलन कर समस्या के मूल स्त्रोत को समझें।

2.5 बोध प्रश्न

1. सामाजिक समस्याओं के रेनहार्ट द्वारा बतलाए विकास के तत्त्वों की चर्चा कीजिए।

2. राव तथा सेल्जनिक के सामाजिक समस्याओं के कारणोंको स्पष्ट कीजिए।

3. सामाजिक समस्याओं को परिभाषित करते हुए कारणों का विवरण दीजिए।

4. सामाजिक समस्याओं के आर्थिकसांस्कृतिक समस्याओं के प्रकारों को वर्तमान उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।

5. सामुदायिक समस्याओं में जातिवाद और सांप्रदायिकता की चर्चा कीजिए।

6. पर्यावरणीय समस्याओं का विश्लेषण कीजिए।

2.6 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

शर्मा, जी. एल. (2015). *सामाजिक मुद्दे*. नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशन.

आहूजा, राम. (2016). *सामाजिक समस्याएँ* (सं. तृतीय). नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशन.

सोती, शिवेंद्र चंद्र. (2002). *भारत में सामाजिक समस्याएँ*. नई दिल्ली: कनिष्का पब्लिशर्स.

शर्मा, वीरेंद्र प्रकाश. (2004). *भारतीय समाज मुद्दे और समस्याएँ*. जयपुर: पंचशील प्रकाशन.

http://www.hindikiduniya.com/india/social-issues/ 07/04/2016

http://www.hindikiduniya.com/india/social-issues/caste-system/07/04/2016

http://www.hindikiduniya.com/india/social-issues/untouchability/14/04/2016

http://www.hindikiduniya.com/india/social-issues/bonded-labour-system/15/04/2016

http://www.hindikiduniya.com/india/social-issues/gender-inequality/16/04/2016

http://www.hindikiduniya.com/india/social-issues/dowry-system/18/04/2016

इकाई 3 सामाजिक समस्या के प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 सामाजिक समस्या के प्रभाव
3.2.1 आर्थिक प्रभाव
3.2.2 सामाजिक प्रभाव
3.2.3 राजनैतिक प्रभाव
3.2.4 मनोवैज्ञानिक प्रभाव
3.2.5 सांस्कृतिक प्रभाव
3.2.6 पर्यावरणीय प्रभाव
3.3 सारांश
3.4 बोध प्रश्न
3.5 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप -

- सामाजिक समस्या की जटिलता को समझ सकेंगे।
- सामाजिक समस्या के विभिन्न प्रकार के प्रभाव को समझ सकेंगे।
- आस-पास के परिवेश में सामाजिक समस्या के प्रभाव को रेखांकित कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

हमने पूर्व की इकाई में देखा कि सामाजिक समस्या की अवधारणा क्या है? साथ ही उनकी उत्पति के कारण एवं प्रकारों से संबंधित चर्चा की। अब इस इकाई में हम यह जानेंगे कि सामाजिक समस्याओं के प्रभाव समाज पर किस प्रकार से हावी होते हैं ? मानव समाज के इतिहास को यदि गहराई से देखा जाए, तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह विविध प्रकार की समस्याओं एवं चुनौतियों का ही इतिहास रहा है। प्रत्येक सभ्य एवं असभ्य, शिक्षित तथा अशिक्षित, विकसित और विकासशील समाज में कोई-न-कोई सामाजिक समस्या विद्यमान रही है, और आज भी है तथा इन्हीं समस्याओं को सामाजिक विघटन का प्रमुख कारण माना जाता है। किसी भी समाज में स्थायित्व एवं निरंतरता हेतु समस्याओं का समाधान

किया जाना आवश्यक माना जाता है। इसीलिए समाज कार्य में सामाजिक समस्या के प्रभाव जानना आवश्यक बन जाता है, ताकि पता चले कि समाज को किस तरह प्रभावित कर समस्याग्रस्त बना देता है।

3.2 सामाजिक समस्या के प्रभाव

वर्तमान समय में भारतीय समाज अनेक सामाजिक समस्याओं से पीड़ित है जिनके निराकरण के लिए राज्य एवं समाज द्वारा मिलकर प्रयास किए जा रहे हैं। भारतीय समाज की प्रमुखसमस्याओं में जनसंख्या में बढ़ोतरी, निर्धनता, बेरोज़गारी, असमानता, अशिक्षा, गरीबी, आतंकवाद, घुसपैठ, बाल श्रमिक, श्रमिक असंतोष, विद्यार्थी असंतोष, भ्रष्टाचार, नशाखोरी, जानलेवा बीमारियां, दहेज प्रथा, बाल विवाह, भ्रूण बालिका हत्या, विवाह-विच्छेद की समस्या, बाल अपराध, मद्यपान, जातिवाद, अस्पृश्यता की समस्या ये सभी समाजिक समस्याओं के अंतर्गत आती है। सामाजिक समस्याओं के निराकरण के लिए यह अत्यावश्यक है कि इनकी प्रकृति को समझा जाए एवं स्वरूपों की व्याख्या की जाए। भिन्न-भिन्न सामाजिक समस्याओं के मध्य पाए जाने वाले परस्पर सबंधों का विश्लेषण एवं अनुशीलन कर हम इन समस्याओं के व्यावहारिक निराकरण के लिए एक नई सोच प्रस्तुत कर सके।

भारतवर्ष एक स्वतंत्र गणराज्य है, जिसने धर्म-निरपेक्ष, प्रजातंत्र तथा आर्थिक समानता के प्रगतिशील मूल्यों को स्वीकार किया है, परंतु यहां निर्धनता पाई जाती है, गरीब-अमीर के बीच एक बहुत बड़ी खाई दिखाई पड़ती है। यहां धर्म, भाषा, प्रजाति, जाति तथा क्षेत्रीयता के आधार पर अनेक भेदभाव पाए जाते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति में सामाजिक और आर्थिक आधार पर ऊंच-नीच का एक संस्तरण पाया जाता है। जातिवाद, अस्पृश्यता, भाषावाद, प्रांतीयता, सांप्रदायिकता, युवा विक्षोभ तथा बेकारी आदि समस्याएं यहां मौजूद हैं।

सामाजिक समस्याओं के समाज पर अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों प्रभाव देखें जाते हैं। इन्हें हम निम्नानुसार बता सकते हैं :

ज्ञान शांति मैत्री

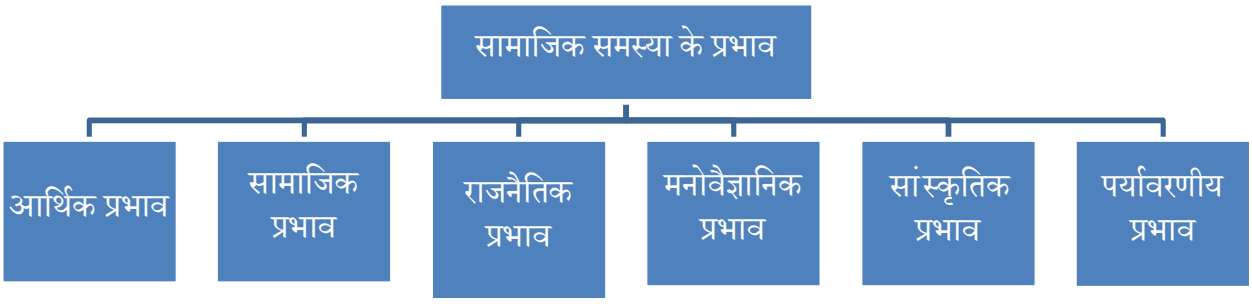

3.2.1 आर्थिक प्रभाव: *वैश्विक आर्थिक सिद्धांत* के अनुसार वैश्विक अर्थव्यवस्था का प्रभाव विभिन्न राष्ट्रों पर पड़ता है। वैश्विक नीतियों के परिवर्तन के कारण राष्ट्र अपनी अर्थव्यवस्था में परिवर्तन लाते हैं। राष्ट्र की नीति परिवर्तन से राज्य प्रभावित होता है और इसी तरह से नीतियों में भी परिवर्तन आम बात है। इसका असर आम व्यक्तियों के आर्थिक व्यवहारों को प्रभावित करता है। इस परिवर्तन को कुछ समाज सहज स्वीकृत करते हैं, लेकिन कुछ अस्वीकृत करते हैं, क्योंकि वे उसके लिए सक्षम नहीं होते हैं। परिणाम-स्वरूप समाज में सामाजिक समस्याओं का उद्भव होता है। इसके प्रभाव को ऐसे भी देखा जाता है, जैसे- भारत दुनिया के तीव्र आर्थिक विकास वाले देशों में से एक है साथ ही वह तीसरी दुनिया का एक राष्ट्र भी है,भारत में विकास की दर काफ़ी ऊंची बताई जाती है, किंतु इस विकास का लाभ गरीबों को नहीं मिल पा रहा है। परिणामत: इसका असर उनके विकास पर भी पड़ा, जो पिछले कुछ सालों में लगातार धीमा हुआ है। सामाजिक चुनौतियां बनी हुई हैं और गरीबी लगातार बढ़ रही है। भारत ने90 के दशक में नई नीतियों के साथ आर्थिक सुधार शुरू किए थे। सुधारों से उम्मीद थी कि लोगों की आर्थिक हालात सुधरेंगे, लेकिन शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं पर ध्यान न देने की वजह सेगरीबी, कुपोषण, भ्रष्टाचार और लैंगिक विषमता जैसी सामाजिक समस्याएं बढ़ी हैं। अब यह समस्याएँ देश के विकास को प्रभावित कर रही है। दो दशक से आर्थिक सुधारों की वजह से देश ने तरक्की तो की है लेकिन एक तिहाई आबादी अभी भी गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन कर रही है। भारत इस अवधि में ऐसा देश बन गया है, जहां दुनिया भर के एक तिहाई गरीब रहते हैं।देश की आर्थिक समस्याओं को जन्मदेती है।

वर्तमान में कालेधन की समस्या के प्रभाव से देश की अर्थव्यवस्था को अपूरणीय (Irreparable) हानि पहुंचती है, और इसका प्रभाव आम आदमी पर अधिक पड़ता है। कुछ प्रमुख आर्थिक प्रभाव हैं: मुद्रा स्फीति दबाव में वृद्धि, विकास कार्य में बाधा, संसाधनों में अव्यवस्था, 'कर' आधार का सीमितिकरण, और समानांतर अर्थव्यवस्था का उदय। देश का आर्थिक संतुलन खतरे में पड़ जाता है।सामान्य व्यापार के क्रियाकलाप प्रभावित होते हैं तथा वित्तीय संस्थानों और वाणिज्य संस्थाओं के संसाधन विकृत और इधर-उधर हो जाते हैं।

औद्योगिक समाज में वस्तुओं का मूल्य यमि कीमत श्रम के आधार पर निर्धारित किया जाता था। उत्पादन में जितना श्रम लगता था, उसी के आधार पर वस्तु का मूल्य तय किया जाता था, लेकिन वर्तमान में श्रम आधार और अधिरचना के स्वरूप में भी परिवर्तन आ गया है।

3.2.2 सामाजिक प्रभाव:

नगरीकरण केवल परिवार के ढांचे को ही प्रभावित नहीं करता, बल्कि वह परिवार के आंतरिक और अंतर-परिवार के संबंधों और उन कार्यों को भी प्रभावित करता है, जो परिवार करता है। शहरी परिवारों पर आई. पी. देसाई, कपाड़िया, और एलन रॉस जैसे विद्वानों द्वारा किए गए आनुभविक अध्ययनों ने बतलाया है कि शहरी संयुक्त परिवार का स्थान धीरेधीरे एकाकी परिवार ने ले लिया है और उनके संबंध दो या तीन पीढ़ी तक ही सीमित हो गए है। इस कारण हमारे परिवार का आकार छोटा होता जा रहा है।

इस में अदृश्य रूप से कार्य करने वाली समाजीकरण की प्रक्रिया में बाधा निर्माण होने लगी है। व्यक्ति पर के सामाजिक नियंत्रण कम होने से समाज में नैतिक मूल्यों की कमी, मद्यपान, अपराध, महिला शोषण, आदि जैसी नई समस्याएं निर्माण होने लगी हैं।

भारतीय अर्थव्यवस्था ने निजीकरण, वैश्वीकरण और उदारीकरण की नीतियों द्वारा देश के बाजार व्यवस्था को खुला करने से नई संरचना खड़ी हुई। इस संदर्भ में मार्क्स का वक्तव्य सही लगता है, जिसमे वो कहता है कि पूँजीवादी समाज में पूंजीपति और उद्योगपति शासक वर्ग होताहै। उद्योग में कार्य करने वाले लोगमज़दूर वर्ग होते हैं। व्यापारी, महाजन, बैंकर, वित्त के मालिक, तकनीकी विशेषज्ञ अन्य वर्ग होते हैं। पूंजीपतियों में आपसी प्रतियोगिता बढ़ जाती है। मज़दूर अलगाव के शिकार होने लगते हैं। जिंदा रहने के लिएमज़दूर को मज़दूरी करनी पड़तीहै। पूँजीवाद में उत्पादन के साधन बहुत विकसित हो जाते हैं। मुनाफा और धन-संग्रह उत्पादन की चालक शक्ति होती है, जिससे सामाजिक असमानताएं बहुत बढ़ जाती हैं। यह व्यवस्था कुछ लोगों के लिए समृद्धि एवं अनेक लोगों के लिए अभाव की स्थिति पैदा करती है।

सामाजिक समस्या के प्रभाव को पारिवारिक विघटन की कड़ी के रूप में देखा जाता है। सामाजिक जीवन का व्यक्ति के जीवन पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। इस प्रभाव का स्वाभाविक परिणाम व्यक्तिगत विघटन के रूप में होता है। बेरोज़गारी परिवार के सदस्यों के हितों की एकता को प्रभावित करती है और वैयक्तिक मनोकांक्षाओं की एकता को भी। सदस्यों की अव्यवस्थित कार्य प्रणाली परिवार में मनमुटाव पैदा करती है, जिसके फलस्वरूप न केवल बेरोज़गार पति और उसकी पत्नी के बीच तनाव उत्पन्न हो जाते हैं, अपितु माता-पिता और बच्चों के बीच में भी झगड़े होने लगते हैं।

सामाजिक समस्या के प्रभाव को सामाजिक विघटन की समस्या के रूप में भी देखा जा सकता है। सामाजिक विघटन सामाजिक ढांचे का टूटना है या परिवर्तन है, जिसके कारण सामाजिक नियंत्रण के पुराने स्वरूप प्रभावी ढंग से काम नहीं कर पाते हैं। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक समूह के सदस्यों के सामाजिक संबंध टूट जाते हैं। बेरोज़गारों, निर्धनों, विकलांगों आदि समस्या ग्रस्त सदस्यों की गतिविधियां इतनी सीमित हो जाती हैं कि उनके विचार कटु हो जाते हैं जिससे वे काम करने की इच्छा ही खो बैठते हैं और ऐसी स्थिति में उनकी दक्षता में गिरावट आ सक्ती है, जिससे सारे समुदाय को हानि हो सकती है। परिवार की बचत न होने से तथा पर्याप्त आय न होने के कारण परिवार के सदस्यों की आवश्यकताओं को ऋण लेकर चलाने वाले साहसी परिवार भोजन और जीवन की दूसरी आवश्यकताओं में इतनी कमी करते हैं कि वे मंद भूख(slowstarvation) से पीड़ित हो जाते हैं।

इन समस्याओं के साथसाथ वर्तमान समय में कालेधन की भी समस्या सामाजिक दुष्परिणाम को दर्शाती है। सामाजिक दृष्टि से यह सामाजिक असमानता को बढ़ता है, भ्रष्टाचार के जन्म स्थल का काम करता है, ईमानदार लोगों में कुंठा पैदा करता है, तस्करी, रिश्वत जैसे अपराधों को जन्म देता है तथा समाज के गरीब और कमज़ोर वर्ग के उत्थान के कार्यक्रमों पर कुप्रभाव डालता है। यह यथार्थ दरों, जैसे- विकास दर, मुद्रा

स्फीति दर, बेरोज़गारी दर गरीबी आदि के सही आकलन को विकृत करता है, जो पुनः इनको रोकने की सरकारी नीतियों को प्रभावित करता है।

3.2.3 राजनैतिक प्रभाव

सांप्रदायिक दंगे धर्म की तुलना में राजनीति से अधिक प्रेरित होते हैं। मदान कमीशन(1970) ने महाराष्ट्र के सांप्रदायिक दंगों की छानबीन की रिपोर्ट में इस पर बल दिया था कि सांप्रदायिक तनावों के वास्तुकार और निर्माता संप्रदायवादी और राजनीतिज्ञों का एक वर्ग होता है- वे अखिल भारतीय और स्थानीय नेता जो अपनी राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने, अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने, सार्वजनिक छवि को समृद्ध बनाने और वोट बैंक को बढ़ाने हेतु हर अवसर या घटना को सांप्रदायिक रंग प्रदान करते हैं। इस परिणामस्वरूप कितने सारे परिवार उजड़ जाते हैं, वित्त हानि, मानव हानि हो जाती है। साथ ही एक दूसरे के प्रति बदले की भावना मन में उठती है। उससे अपराध, निर्धनता, मनोवैज्ञानिक प्रभाव आदि निर्माण होते हैं।

देश में चुनाव में हजारों करोड़ रुपए लग जाते हैं।अनुमानत: लोकसभा एवं विधानसभा चुनाव में क्रमशः 10 एवं 5 करोड़ रुपए प्रत्याशी खर्च करते हैं। प्रत्याशियों को भी अपने चुनाव क्षेत्रों में विकास के लिए व्यापार संसाधनों पर भी निर्भर रहना पड़ता है। संख्या बल बढ़ाने के लिए कालाधन इस व्यवस्था में बनाया जाता है। राजनीतिज्ञों को धन का सहयोग देने के लिए उद्यम घरानों के पास भी अलिखित धन पैदा करने के अलावा कोई उपाय नहीं रहता। परिणामस्वरूप त्रुटिपूर्ण सार्वजनिक वितरण व्यवस्था का निर्माण होता है, उसमें आवश्यक वस्तुओं की कमी होने लगती है। ऐसे में लोगों को नियंत्रित मूल्य से अधिक मूल्य चुकाना पड़ताहै, जो कालेधन को बढ़ता है।

सरकार की मूल्य नियंत्रण नीति के कारण 1991 *National Council of Applied Economic Research* की रिपोर्ट के अनुसार 1965-66 से 1974-75 नौ वर्ष की अवधि में सीमेंट, स्टील, कागज, वनस्पति, स्वचालित वाहन टायरों और उर्वकों जैसी छह वस्तुओं मेंमूल्य नियंत्रण लागू करने के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था में 840 करोड़ रुपए मूल्य का कालाधन उत्पन्न हो गया। इसका पूरा भार आम आदमी को ही भरना पड़ता है।

3.2.4 मनोवैज्ञानिक प्रभाव

सामाजिक समस्या के निर्माण में मनोवैज्ञानिक कारक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यहां मनोविज्ञान से तात्पर्य केवल व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सामाजिक मनोविज्ञान तथा विकासात्मक मनोविज्ञान भी शामिल हैं। सामाजिक समस्या के स्वरूप को समझते हुए यह देखा जाता है कि किसी भी समस्या का समाज और व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक परिवेश पर प्रभाव पड़ता है। मानसिक स्वास्थ्य के विभिन्न अध्ययन इस बात को इंगित करते हैं कि सामाजिक समस्या तथा विकृत सामाजिक व्यवस्था में जीवनयापन करने वाले व्यक्ति ज़्यादा प्रभावित होते हैं। सामान्यत: यह माना जाता है कि आधुनिक युग में अत्याधिक तनाव के कारण मानसिक समस्याएं उद्भूत हुई हैं। तनाव रोज़मर्रा के जीवन में आने वाली कठिनाइयों से उत्पन्न होता है।

दूसरी ओर ऐसे भी अध्ययन देखे जा सकते हैं जिसमें यह दर्शाया गया है कि मानसिक रोग शहरों की अपेक्षा गांव में कम पाए जाते हैं।

गरीबी, बेरोज़गारी ऐसी प्रमुख सामाजिक समस्याएं हैं जिन्हें मानसिक रोग के उद्भव, वृद्धि के साथ जोड़कर देखा जाता है। भिक्षावृत्ति पर किए गए अध्ययन से पता चलता है कि इसमें से कई भिखारी केवल अपनी मनोदशा के कारण ही भिक्षावृत्ति को नहीं छोड़ पाते हैं। अपराध के क्षेत्र में हम देखते हैं कि सामाजिक अपराध को कलंक के रूप में देखा जाता है। जैसेकि कोई एक बार चोरी करते हुए पकड़ा जाता है, तो उसे उस समाज में कलंकित मानकर सामाजिक व्यवस्था से बहिष्कृत किया जाता है, ऐसे में समाज द्वारा उसके लिए समायोजन के सारे रास्ते बंद कर दिए जाते हैं। ऐसे में अपराधी की मनोदशा और भी बिगड़ जाती है। समाज द्वारा उपेक्षित मानसिकता से दुत्कार के बाद वह असमायोजित हो जाता है।

सामाजिक समस्या कभी भी एकल/अकेले नहीं होती है, बल्कि वह एक जटिल (Complex) के रूप में अवस्थित होती है। जैसे- अशिक्षा एक सामाजिक समस्या है, तो इसके साथ बेरोज़गारी भी जुड़ी है, क्योंकि उचित शिक्षा के अभाव में अच्छा रोज़गार नहीं मिलता और रोज़गार के अभाव में गरीबी पनपती है, जिसका सीधा असर व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक क्षेत्र पर पड़ता है। समस्याग्रस्त व्यक्त का अहं (Ego) ध्वस्त हो चुका होता है। वह इतना अक्षम (Vulnerable) होता है कि किसी भी संकट का आसानी से शिकार बन जाता है। स्व (Self), पहचान (Identity), आत्म सम्मान, रुचि-अभिरुचि जैसी अवधारणाओं से इनका दूर-दूर तक संबंध नहीं होता है। एक कहावत है कि 'भूखे भजन न होय गोपाला' भूखे पेट किसी व्यक्ति की प्रवचन सुनने की मानसिकता नहीं होती। सामाजिक समस्या तब पैदा होती है जब व्यक्ति की इच्छा पूर्ति में अवरोध आते हैं। परिणामतः वह एक विकृत मनोदशा में स्थिर हो जाता है। सामाजिक समस्याओं का समाज पर भी गहरा प्रभाव देखा जाता है। जैसे कि आर्थिक समस्याओं के कारण मंहगाई, भ्रष्टाचार पनपता है। इसका समाज पर प्रभाव यह होता है कि समाज में असंतोष पैदा होता है। इस असंतोष के कारण समाज में बदलाव, परिवर्तन की मांग बढ़ती है। कुल मिलकर सामाजिक समस्याओं के प्रभाव प्रतिकूल ही नहीं, बल्कि अनुकूल भी होते हैं।

2.5 सांस्कृतिक प्रभाव

भारत में विभिन्न क्षेत्रों में बसे लोगों के परिवार, विवाह, रीति-रिवाज, वस्त्र शैली आदि में भी पर्याप्त भिन्नता होने के बावजूद भारतीय समाज व्यवस्था में सांस्कृतिक एकता के दर्शन होते हैं। संयुक्त परिवार प्रणाली, जाति-प्रथा, ग्राम पंचायत, गौत्र एवं वंश व्यवस्था भारतीय समाज के आधार रहे हैं। रक्षाबंधन, दशहरा, दीपवाली, होली, ईद, मोहर्रम आदि त्योहारों का फैलाव समूचे भारत में है। इसी प्रकार सारे देश में जन्म-मरण के संस्कार, विवाह-प्रणालियाँ, शिष्टाचार, आमोद-प्रमोद, उत्सव, मेलों, सामाजिक रूढ़ियों और परंपराओं में पर्याप्त समानता देखने को मिलती रही है। लेकिन सूचना क्रांति के पश्चात पूरे विश्व को एकत्रित कर सांस्कृतिक आदान-प्रदान को बढ़ावा दिया गया, जिसके कारण बहुसंस्कृतिकरण, विसंस्कृतिकरण आदि शब्दावली प्रयोग में आने लगी है।

वर्तमान में समाज औद्योगिकता से उत्तर औद्योगिकता की ओर अग्रसर है, इस कारणवश हमारे समाज की परंपरागत रूढ़ि, प्रथा, सामाजिक सेवाएं, सामाजिक संस्थाओं आदिकी रचना में परिवर्तन आ रहा है। समाज पर पूंजीवादी व्यवस्था का प्रभाव और पूंजीवादियों के औद्योगिक जाल में समाज फंसता जा रहा हैं। हमारे त्यौहार उत्तर-औद्योगिक समाज (Post Industrial society) के उत्पादित सेवाओं पर निर्भर है। इसको सुधीश पचौरी ने "पाप्युलर कल्चर"(Popular Culture) के रूप में परिभाषित किया है।

आधुनिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप प्राथमिक संबंधों में शिथिलता आ गई है, औद्योगिक समाज में योग्यता एवं धन को अधिक महत्व दिया जा रहा है, जिससे व्यक्तिवादी भावनाओं का जन्म होता रहा हैं, इसलिए अपरिचय का वातावरण विकसित हो गया है। परंपरागत रूप से पाए जाने वाले प्रत्यक्ष व व्यक्तिगत संबंधों की कमी के कारण द्वितीयक संबंधों को महत्व मिलने लगता है। व्यक्ति को सम्मान उसकी प्रस्थिति के अनुसार दिया जाता है तथा प्रस्थिति के लिए वैयक्तिक योग्यता तथा धन का होना आवश्यक है। नगरीय संस्कृति व्यक्ति को व्यक्तिवादी बनाती है। उसे स्वार्थी व महत्वाकांक्षी बनाती है। वह अपने बनाए हुए इच्छाओं तथा उद्देश्योंके घेरे में रहता है। वह अपनी इच्छाओं और स्वार्थ को किसी भी तरह पूरा करने में सुबह से रात तक व्यस्तरहता है। वह अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए दूसरों से संबंध बनाता और तोड़ता है। विविध कार्यो का वह किस तरह प्रयोग करे इसका निर्णय वह स्वयं करता है। समाज और समूह उसके कार्यो को किस रूप में लेता है, इसकी वह चिंता करता है। अतः नगर का स्थायी, व्यक्ति, अवसरवादी और महत्त्वाकांक्षी होता है। ये उसके व्यक्तित्व की प्रधान विशिष्टता है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने गुणों को विकसित करना चाहता है, जिसके परिणामस्वरूप निजी स्वार्थ की भावना का जन्म होता है। इतना ही नहीं, व्यस्त जीवन तथा द्वितीयक संबंधों के कारण आस-पड़ोस के लोगों के सुख-दुःख में हाथ बंटाना संभव ही नहीं है।*मैक्स वेबर के अनुसार औद्योगिक समाज में मनुष्य का अमानवीयकरण हो जाता है। जार्ज सीमेल का मानना है कि व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ संस्कृति में विरोध के कारण संस्कृति की त्रासदी हो जाती है।*

3.2.6 पर्यावरणीय प्रभाव

पर्यावरणीय प्रभावों को दो बिंदुओं में देखा जा सकता है। प्रथम प्राकृतिक पर्यावरण और द्वितीय सामाजिक पर्यावरण। प्राकृतिक पर्यावरण में हमारे चारों ओर के भौतिक, अभौतिक, जैविक, रासानिक तथा प्राकृतिक परिवेश को पर्यावरण के नाम से जाना जाता है। जैविक-अजैविक, रासानिक तत्वों का अस्तित्व नैसर्गिक रूप से संतुलित अवस्था में रहता है। इस प्राकृतिक संतुलन में अवांछित असंतुलन की स्थिति पर्यावरण प्रदुषण को अभिव्यक्त करती है। आज औद्योगिकीकरण, स्वचालितकरण, नगरीकरण एवं मशीनीकरण के परिणामस्वरूप पर्यावरण प्रदूषण अपने चरमपर हैं।

वायु, ध्वनि, जल, मृदा प्रदूषण, समुद्री प्रदूषण, रेडियोधर्मी प्रदूषण, कीटनाशक प्रदूषण, विद्युत-चुंबकीय विकिरण प्रदूषण के अतिरिक्त नाभिकीय प्रदूषण तथा ईवेस्ट आधुनिक युग में सर्वाधिक खतरनाक हैं।

वायु प्रदूषण के परिणामस्वरूप ग्लोबल वार्मिंग ग्रीन हाउस प्रभाव तथा ओजोनपरत का क्षय हो रहा है, जिससे संपूर्ण मानव जाति खतरे के कगार पर बैठी है।

प्राकृतिक पर्यवारण में बदलाव को*Intergovernmental Panel on Climate Change* के वर्ष 2007 के रिपोर्ट में वैश्विक तापवृद्धि के कारण वर्ष 1901 से औसत समुद्री जल स्तर में वृद्धि 19 सेंटीमीटर बताया गया है। समुद्री जलस्तर में 21 वीं सदी के अंत तक वह 25 से 81 सेंटीमीटर बढ़ सकता है। वैश्विक तापवृद्धि के चलते वर्ष 1988 से 2012 के बीच धरातलीय तापमान में 0.85 डिग्री सेल्सियस की वृद्धि हुई है। इस कारण मानवी शारीरिक चर्म रोगों में वृद्धिदेखी जा रही है। मानसून मौसम की अनिश्चित के कारण कृषि उत्पादन में दिन-ब-दिन कमी आ रही है।

बढ़ती गर्मी के कारण नदी, तलाब, झीलों तथा महासागरों आदि का पानी तेज़ी से भाप बनकर उड़ रहा है। इससे अतिवृष्टि और बाढ़ आदि की समस्या बढ़ी है। बढ़ती गर्मी के कारण ही कुछ जगहोंपर वायुमंडलीय दबाव अचानक कम हो जाता है, जिससे आंधी-तूफान का प्रकोप बढ़ जाता है। सीमा से अधिक तापमान उत्पन्न होने पर नए प्रकार के कीड़े-मकोड़े उत्पन्न होने लगते हैं और उन पर सामान्य कीटनाशकों का कम प्रभाव पड़ता है। परिणाम फसल की उत्पादकता एवं गुणवत्ता प्रभावित होती है। तापमान बढ़ने से ध्रुवों की बर्फ पिघलने लगती है, जिससे सागरों का जल स्तर बढ़ने से तटवर्ती क्षेत्रों के जलमग्न होने का खतरा बढ़ रहता है।

दूसरी ओर सामाजिक समस्याओं के कारण सामाजिक पर्यावरण,जिसमें- समूह, सामाजिक संस्था तथा संगठन आदि पर प्रभाव को देखाजा सकता है। आधुनिकीकरण के चलते व्यक्तिवादिता को बढ़ावा मिला है परिणामत: सामाजिक वातावरण के मूल्यों, मानकों आदि पर प्रभाव देखा जाता है। एक समय था जब हम दुनिया को श्वेत और अश्वेत के बीच भेद कर के समझते थे, किंतु उत्तराधुनिक समय में विभिन्न बदलाव सामने आ रहे हैं। सामाजिक पर्यावरण में प्राकृतिक बदलाव के कारण मानवीय समाज में जीवन खत्म होने की संभावना बनी होने से मन में डर बना हुआ है।

3.3 सारांश

इस इकाई में हमने सामाजिक समस्याओं के प्रभावों को विभिन्न प्रकारों में बांटकर समझने की कोशिश की है। हमें यह समझना जरूरी है कि सामाजिक समस्याओं के प्रभाव सदैव प्रतिकूल ही नहीं होते,बल्कि अनुकूल भी होते हैं। सामाजिक इतिहास में भी हम देखते हैं किजितनी भी सामाजिक क्रांतियाँ हुई है, उनके पीछे सामाजिक समस्या के प्रतिरोध को देखा जाता है। जैसे कि समाज में सारे नए परिवर्तन, विभिन्न मूल्यों में परिवर्तन किसी-न-किसी समस्या के प्रतिरोध में ही हुआ हैं।

इस इकाई में सामाजिक समस्याओं के प्रभाव को आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक तथा पर्यावरण प्रभावों के रूप में देखा है। यह समाज कार्य में अप्रत्यक्ष प्रणाली के साथ कार्य करते समय सामाजिक कार्यकर्ता को सामाजिक समस्याओं एवं उनके प्रभावों को समझने में सहायक होगा।

3.4 बोध प्रश्न

1) भ्रष्टाचार के सामाजिक एवं आर्थिक प्रभावों की विवेचन कीजिए।
2) सामाजिक समस्याओं के राजनैतिक प्रभावों को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
3) बेरोज़गारी एवं निर्धनता के मनोवैज्ञानिक प्रभावों की चर्चा करें।
4) आधुनिकीकरण एवं शहरीकरण के दुष्प्रभाव का वर्णन करें।

3.5 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

शर्मा, वी. पी. (2004). *भारतीय सामाजिक मुद्दे और समस्याएँ.* जयपुर: पंचशील प्रकाशन।

आहूजा, राम (2016). *सामाजिक समस्याएं*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स।

चन्द्र, सोती शिवेन्द्र (2002). *भारत में सामाजिक समस्याएँ*. नई दिल्ली: कनिष्का पब्लिशर्स।

शर्मा, जी. एल. (2015). *सामाजिक मुद्दे*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स।

सिंह, आनंद प्रकाश (2007). *सामाजिक समस्याएं और अपराध*. यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन्स।

ज्ञान शांति मैत्री

खंड - 2

सामाजिक परिदृश्य

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 1
निर्धनता और बेरोज़गारी

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 निर्धनता की संकल्पना और अर्थ
1.3 निर्धनता के कारण
1.4 निर्धनता उन्मूलन के उपाय
1.5 बेरोज़गारी की संकल्पना और अर्थ
1.6 बेरोज़गारी के कारण
1.7 बेरोज़गारी के परिणाम
1.8 बेरोज़गारी उन्मूलन के उपाय
1.9 सारांश
1.10 बोध प्रश्न
1.11 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप –

- निर्धनता एवं बेरोज़गारी के अर्थ एवं संकल्पना को स्पष्ट कर सकेंगे।
- निर्धनता एवं बेरोज़गारी के कारणों परिणामों और इनके उन्मूलन के उपायों का वर्णन कर सकेंगे ।

1.1 प्रस्तावना

निर्धनता और बेरोज़गारी दोनों ही एक-दूसरे के पूरक होते हैं। निर्धनता एक प्रकार की दशा को स्पष्ट करती है जिसमें व्यक्ति अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की अपूर्ति कराने में असमर्थ होता है। वहीं बेरोज़गारी वह अवस्था है जिसमें देश में कार्य करने वाला मानव संसाधन तो अधिक होता है, परंतु काम करने की इच्छा के बावजूद बहुतों को प्रचलित मज़दूरीपर काम नहीं मिलता।

1.2 निर्धनता की संकल्पना और अर्थ

बीसवीं शताब्दी में ही निर्धनता और निर्धन व्यक्ति का विषय हमारे संज्ञान में आया। औपनिवेशिक काल में गरीबों के प्रति उपेक्षित रवैया रखने के कारण वे गर्त की ओर उन्मुख हो गए, परंतु स्वतंत्र भारत में उनके प्रति गंभीर विमर्श उपजा और उनके लिए अनेक कार्य भी किए गए। हेनरी बर्सटीन ने निर्धनता के कुछ आयामों की चर्चा की है–

- जीविका रणनीतियों की कमी
- संसाधनों तक पहुँच का अभाव
- असुरक्षा का भाव
- संसाधनों के अभाव के कारण दूसरे व्यक्तियों के साथ सामाजिक संबंध स्थापित करने और उसे बनाए रखने में अयोग्यता

विश्व बैंक के अनुसार, विकासशील और अल्पविकसित देशों के ऐसे व्यक्ति गरीब की श्रेणी में विभाजित किए जाएंगे, जिनकी प्रतिदिन की आय 1.25 डॉलर से कम हो और यह मापदंड विकसित देशों के लिए 2 डॉलर प्रति व्यक्ति प्रतिदिन निर्धारित किया गया है।

योजना आयोग द्वारा गठित दल की रिपोर्ट के अनुसार, ग्रामीण इलाकों में प्रति व्यक्ति 2,400 कैलोरी प्रतिदिन और शहरी इलाकों में 2,100 कैलोरी प्रतिदिन का संचरण आवश्यक है और, जिन्हें यह प्राप्त नहीं हो पाता हैं उन्हें गरीबी रेखा के नीचे माना जाता है।

निर्धनता को स्पष्ट करने के लिए प्रमुख रूप से तीन स्थितियों का इस्तेमाल किया जाता है-

- जीवनयापन हेतु आवश्यक धन
- निम्नतम जीवनयापन स्तर और समय व स्थान विशेष पर प्रचलित जीवनस्तर
- समाज में समृद्धि और निर्धनता की दशाओं की तुलना

निर्धनता की माप हेतु भी तीन तत्व प्रमुख हैं-

- कुपोषण (2,100 से 2,400 कैलोरी प्रतिदिन की सीमा से नीचे)
- निम्न आय (ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति प्रति माह आय 49.09 रुपये और शहरी क्षेत्रों में 56.64 रुपये (1993-94 के अनुसार) तथा 1999-2000 में ग्रामीण क्षेत्रों में 218.75 रुपये और शहरी क्षेत्रों में 247.80 रुपये (1998-99 के अनुसार)
- असाध्य रोग व बुरा स्वास्थ्य, बेरोज़गारी, निरक्षरता,घर की अस्वास्थ्यकर परिस्थिति

सामान्यतः किसी भी समाज में निर्धनता को विश्लेषित करने हेतु मुख्य तौर पर साधनों की कमी, न्यून राष्ट्रीय आय, प्रति व्यक्ति कम आय, कमज़ोर सुरक्षा आदि को आधार स्वरूप सम्मिलित किया जाता है।

1.3 निर्धनता के कारण

भारतीय समाज विश्व की पुरातन संस्कृति के रूप में स्थापित है और भारतीय समाज में धर्म, परंपरा और काल्पनिक विश्वासों का बोलबाला भी बहुत ज़्यादा है। इस आदर पर निर्धनता को पूर्वजन्म में किए गए कुकर्मों का प्रतिफल माना जाता है और यह माना जाता है कि यदि इस जन्म में अच्छे कर्म किए जाए, तो अगले जन्म में उसका फल प्राप्त होगा। इसके इतर दूसरा तर्क यह है कि निर्धनता व्यक्ति के कार्य की

क्षमता की विफलता का परिणाम है। वहीं एक अन्य तर्क निर्धनता को व्यक्ति से परे मानता है और उसके अनुसार निर्धनता को नियंत्रित करना व्यक्ति के सामर्थ्य से बाहर है। मोटे तौर पर तीन पक्षों के आधार पर निर्धनता के कारणों की व्याख्या की जा सकती है–

1. **आर्थिक कारण-** भारत में निर्धनता के लिए उत्तरदायी कारक के रूप में अपर्याप्त विकास को इंगित किया जाता है, क्योंकि 1951 से 98 के मध्य विकास की दर 3.5 प्रतिशत ही आँकी गई है। स्वतंत्र भारत में आरंभ में विकास की दर अपेक्षाकृत बेहतर थी, परंतु शनैः शनैः जनसंख्या में वृद्धि होने के कारण यह दर काफ़ी सामान्य हो गई। अर्थव्यवस्था के कार्यक्रम को नियोजित करने के लिए एक दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता होती है, जिसका परिणाम 10-15 वर्षों के गुजर जाने के पश्चात परिलक्षित होता है। इसके अलावा पंचवर्षीय योजनाओं को लागू किया जाता है जो प्रत्येक वर्ष आर्थिक गतिविधियों का पूरा लेखा-जोखा प्रस्तुत करती हैं। प्रत्येक पंचवर्षीय योजना किसी-न-किसी समस्या के आलोक में बनाई जाती है और अगली योजना में पूर्व की कमियों और नवीन समस्याओं के निराकरण का प्रयोजन किया जाता है। मुद्रास्फीति के दबावों ने भी निर्धनता को बढ़ावा दिया है। 1960-61में थोक मूल्यों का सूचकांक पिछले आँकड़ों के मुक़ाबले 70 प्रतिशत बढ़ गया और यह जुलाई 2000 में घटकर लगभग 6 प्रतिशत ही रह गया। पूँजी की अनुपलब्धता से भी औद्योगिक विकास का मार्ग अवरुद्ध होता है। देश में उच्च बेरोज़गारी की दर श्रम की माँग को कम करती है। 1997 के आकड़ों के अनुसार देश में बेरोज़गारी व्यक्तियों की कुल संख्या लगभग 3 करोड़ आँकी गई है और यह संख्या 1992 से लगातार उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है।
2. **जनांकिकीय कारण-** जनसंख्या वृद्धि निर्धनता के लिए उत्तरदायी कारणों में से सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। विभिन्न तथ्यों के माध्यम से यह स्पष्ट हो चुका है कि जनसंख्या में वृद्धि होने से कार्यक्रम और परियोजनाएँ विफल होने लगती हैं। पहली बार जब 70 के दशक में समाज के पिछड़े तबके और वंचित समूह को ध्यान में रखकर योजनाएँ क्रियान्वित की गई तो शुरुआत में तो इसका वांछित परिणाम प्राप्त हुआ, परंतु शीघ्र ही जनसंख्या के बढ़ जाने से पुनः आँकड़ें पूर्व के समान ही हो गए और शनैः शनैः आँकड़ें पहले से भी बदतर हो गए, जिससे कार्यक्रमों में फिर से परिवर्तन लाया गया। निर्धनता का संबंध स्वास्थ्य से भी है। यदि कोई व्यक्ति स्वस्थ है, तो वह कार्य करने के लिए और धन कमाने के लिए सुयोग्य है और साथ ही साथ उसका बीमारी पर व्यय भी कम ही है, परंतु यदि एक बड़ी संख्या में व्यक्ति कुपोषण अथवा अस्वस्थता से ग्रस्त है, तो वह न तो श्रम करने अथवा कमाने योग्य रह पाएंगे और न ही वे अपने द्वारा संचित धन को बीमारियों में व्यय करने से रोक पाएंगे। सामान्यतः लोगों में यह धारणा होती है कि परिवार में अधिक सदस्यों के होने से कमाई के लिए अच्छे अवसर तलाशने में सुविधा होगी और धन के अर्जन में भी आसानी होगी , परंतु वास्तविकता कुछ और ही है। परिवार जितना ही बड़ा होगा उसकी प्रति

व्यक्ति उतनी ही निम्न होगी और जीवनस्तर उतना ही निम्न होगा। देश में नागरिकों का शैक्षिक स्तर भी निर्धनता में सहायक होता है। 1991 के आँकड़ों के अनुसार देश में निरक्षरों की संख्या 32.89 करोड़ थी। साथ ही स्नातक, स्नातकोत्तर, तकनीकी शिक्षा/डिप्लोमा रखने वाले लोगों की संख्या बहुत ही कम है और यही कारण है कि एक बड़ी जनसंख्या की आय बहुत ही कम है।

3. **सामाजिक कारण-** जातिवाद, संप्रदायवाद, क्षेत्रवाद, भेदभाव आदि के कारण आय और रोज़गार के अवसर प्रभावित होते हैं। इन सभी कारकों के कारण देश में भीषण हिंसा और संघर्ष हुए हैं, जिन्होंने निर्धनता में तो वृद्धि की ही है और साथ-ही-साथ समाज में अशांति की भावना का भी प्रवाह किया है।

1.4 निर्धनता उन्मूलन के उपाय

निर्धनता उन्मूलन हेतु विविध प्रकृति वाले लोगों के मत भिन्न-भिन्न हैं। यथा–वामपंथी, समाजवादी, पूंजीपति, अर्थशास्त्री आदि प्रकार के बुद्धिजीवियों द्वारा अलग-अलग दृष्टिकोण से निर्धनता के निवारण की वकालत की जाती है। सामान्यतः निर्धनता उन्मूलन हेतु निम्नलिखित उपाय किए जा सकते हैं–

1. **रोज़गार उपलब्ध कराना-** आठवीं योजना के अंत तक यह आभास किया जा सकता है कि कुछ विशेष प्रकार की आर्थिक गतिविधियों के आधार पर रोज़गार उपलब्ध नहीं किए जा सकते। सभी बड़े उद्योगों (जिनमें एक बड़ी मात्रा में पूंजी का निवेश होता है) द्वारा उन्हीं प्रकार की वस्तुओं का निर्माण होता है, जिनका सरोकार मध्य वर्ग व उच्च वर्ग से होता है। उन उद्योगों में काम करने हेतु भी निम्न वर्ग अथवा निर्धन लोग बहुत कम मात्रा में कार्य कर पाते हैं। इसके लिए सीधा उपाय यह है कि कुटीर व छोटे उद्योगों को बढ़ावा दिया जाए और साथ ही साथ कृषि को रोज़गार उत्पत्ति के रूप में उपेक्षित इलाकों में आरंभ किया जाए तथा इन्हें टैक्स और ऋण के क्षेत्रों में प्रोत्साहन देना चाहिए। व्यक्तियों को तकनीकी शिक्षा की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि आज का युग तकनीक और विज्ञान से संचालित होता है। आज भी यदि पहले के समान ही साधनों का प्रयोग किया जाएगा, तो वह निर्धनता को बढ़ावा देने में सहायक सिद्ध होगा। इसलिए प्रौद्योगिकी क्षेत्र में अभिनव परिवर्तन के प्रति अधिक क्रियाशील होना आवश्यक है।
2. **जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण-** कई योजनाओं के आधार पर निर्धनता पर लगाम लगाया जा चुका है, परंतु यह अवरोध कुछ ही समय पश्चात जनसंख्या वृद्धि हो जाने के कारण समाप्त हो गए। लोगों में आधुनिक दृष्टि के अभाव के कारण निर्धनता में वृद्धि हुई है। रूढ़िवाद, क्षेत्रवाद, संप्रदायवाद आदि में बढ़ोत्तरी ने देश के कल्याण, उन्नति और एकीकरण को बाधित करने का काम किया है। इसलिए जनसंख्या को नियंत्रित करना अत्यंत आवश्यक है। शिक्षा को निशुल्क और अनिवार्य करने से लोगों के दृष्टिकोण में बदलाव आएगा और वे जनसंख्या वृद्धि से उत्पन्न समस्याओं के प्रति सचेत हो सकेंगे।

3. **योजनाओं का विकेंद्रीकरण और उनका नियोजन-** ग्रामीण क्षेत्रों में नाना प्रकार की योजनाएँ क्रियान्वित की जाती हैं। उन योजनाओं की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उनका नियोजन आगमन विधि के आधार पर हो। अर्थात् यदि उन योजनाओं का निर्माण ग्राम पंचायत के स्तर पर हो, तो वे ज़्यादा कारगर साबित हो सकेंगी। जब तक योजनाओं और उसके कार्यान्वयन का विकेंद्रीकरण नहीं होगा, तब तक योजनाओं द्वारा वांछित फल पाना दुष्कर होगा। शहरी क्षेत्रों में नगर परिषदों द्वारा स्वरोज़गार कार्यक्रम बनाने चाहिए, जो स्थानीय संसाधनों द्वारा और मलिन बस्तियों के वासियों की कुशलता को प्रोत्साहित करें।
4. **काले धन पर रोक लगाकर-** काला धन कर चोरी करके छुपाया गया धन है, जो पूँजीपतियों, व्यापारियों आदि द्वारा धोखे से हासिल किया गया होता है। अनुमानतः यह माना जाता है कि आज काला धन 50-60 हजार करोड़ रूपऐ प्रतिवर्ष उत्पन्न होता है और यह माना जाता है कि यदि पूरा काला धन यदि वापस आ जाए, तो देश में गरीबी का अंत हो जाएगा।
5. **वितरणात्मक न्याय-** धन के सही ढंग से इस्तेमाल के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि उसका वितरण भी विभिन्न वर्गों में उचित प्रकार से हो। हालांकि आय और संपत्ति में पूर्ण रूप से बराबरी तो नहीं लाई जा सकती , परंतु ऐसी योजनाओं कोक्रियान्वित किया जा सकता है, जिनसे धनी व्यक्ति कर चोरी न कर सके और ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि के बेनाम स्थानांतरण और सौदेबाजी न हो सके।
6. **आदमी-भूमि स्वामित्व-** हालांकि यह सच है कि भूमि को बढ़ाया नहीं जा सकता है परंतु उसकी उत्पादकता को तो प्रौद्योगिकी के माध्यम से अवश्य बढ़ाया जा सकता है। छोटे खेतों को भी आधुनिक तकनीक और प्रौद्योगिकी, उचित सिंचाई सुविधाओं की सहायता से लाभप्रद बनाया जा सकता है। अच्छे प्रौद्योगिकी के उपयोग के साथ-साथ देश की समृद्धि के लिए यह अति आवश्यक है कि उद्योगों में रोज़गार के इच्छुक व्यक्तियों में से अधिकांश को संलिप्त रखा जाए।
7. योजनाओं का क्रियान्वयन समय बद्ध परिणाम के सापेक्ष किया जाना चाहिए, जिससे औद्योगिक क्षेत्र में अधिकांश व्यक्तियों के लिए रोज़गार सुनिश्चित किया जा सके।
8. पंचायती राज व्यवस्था को शक्तिशाली स्वरूप प्रदान करना, ताकि वह कार्यक्रमों को सुचारू रूप से क्रियान्वित कर सके और कार्यक्रमों व ग्रामीण विकास के मध्य मध्यस्थता कर सके।
9. सभी राज्यों में अधिकारियों और तकनीकविदो के एक दल का गठन करना, जो कार्योन्मुखी कार्यक्रमों को नियोजित, कार्यान्वित और संतुलित करने का काम करे।
10. विकासोन्मुखी कार्यक्रमों और परियोजनाओं के प्रति व्यक्तियों की भागीदारी को सुनिश्चित करना।
11. ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में कार्यान्वित परियोजनाओं के वंचित परिणाम हेतु गैरसरकारी संगठनों की सहायता लेना।

1.5 बेरोज़गारी की संकल्पना और अर्थ

बेरोज़गारी का सीधा अर्थ है रोज़गार की अनुपलब्धता। बेरोज़गार व्यक्ति वह है जिसमें कमाने की क्षमता, सामर्थ्य व इच्छा की उपस्थिति होते हुए भी वह वैतनिक काम से वंचित है और व्यक्ति विशेष की यह दशा ही बेरोज़गारी है। बेरोज़गारी के लिए मूल रूप से तीन तत्वों को अंकित किया जा सकता है-

- काम करने की प्रतिभा/क्षमता
- काम करने की इच्छा
- काम तलाशने का प्रयास

इन सभी तत्वों की उपस्थिति के आधार पर ही हम पूर्ण बेरोज़गारी की दशा को समझ सकते हैं। इनमें से किसी तत्व की अनुपस्थिति अथवा किसी एक ही तत्व की उपस्थिति को पूर्ण बेरोज़गारी के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि किसी भिखारी को ही ले लिया जाए, तो वह काम करना नहीं चाहता और न ही वह उसे ढूँढने का प्रयत्न करता है, वहीं कोई अस्वस्थ्य व्यक्ति किसी काम करने के लिए अपनी योग्यता को प्रस्तुत नहीं कर सकता। ये दशाएँ पूर्ण बेरोज़गारी की दशा में शामिल नहीं की जा सकती ऐसा तभी हो सकता ही जब उनकी निष्क्रियता अथवा उदासीनता की अवधि अत्यंत न्यून हो।
इस तथ्य पर निरंतर जोर दिया जाता है कि स्वतंत्र भारत में अपेक्षाकृत बेरोज़गारी में वृद्धि होती है,परंतु बेरोज़गार व्यक्तियों की सटीक संख्या अभी तक मालूम नहीं है। योजना आयोग के अनुसार 1993-94 में ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोज़गारों की संख्या 47 लाख और शहरी क्षेत्रों में बेरोज़गारों की संख्या 48 लाख अनुमानतः है। यद्यपि ये आकड़ें बेरोज़गारी की पूर्ण स्थिति को प्रस्तुत नहीं कर पाते,क्योंकि ये आकड़ें श्रम-शक्ति में बेरोज़गारी के प्रतिशत को व्यक्त करते हैं। केंद्रीय श्रम मंत्रालय के अनुसार1992 में देश में बेरोज़गारों की संख्या 2 करोड़ 30 लाख व 1997 में करोड़ 20 लाख थी और 2002 तक यह संख्या 9 करोड़ 40 लाख के आस-पास हो जाने का अनुमान है।

1.6 बेरोज़गारी के कारण

बेरोज़गारी बहुत बड़ा अभिशाप है और अनेक विद्वानों में इससे संबंधित मंथन भिन्नभिन्न प्रकार का है। कुछ इसके लिए औद्योगिक संरचना में आई मंदी का परिणाम मानते हैं तो कुछ आर्थिक प्रतिस्पर्धा की अवैयक्तिक शक्तियों का परिणाम मानते हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि बेरोज़गारी मात्र आर्थिक कारणों से ही उत्पन्न नहीं होती है, अपितु इसके लिए सामाजिक और वैयक्तिक कारण भी उत्तरदायी हैं। जनसंख्या वृद्धि, अपमानजनक सामाजिक प्रस्थिति, दोषपूर्ण शिक्षा व्यवस्था, भौगोलिक गतिहीनता आदि प्रकार के सामाजिक कारण इसके लिए ज़िम्मेदार हैं और अस्वस्थता, अनुभवहीनता, अकुशलता, असमर्थता आदि वैयक्तिक कारण भी इसके लिए ज़िम्मेदार हैं। बेरोज़गारी के प्रमुख कारण निम्नानुसार उल्लेखित किए गए हैं–

- मशीन प्रौद्योगिकी में सुधार, अत्यधिक उत्पादन, आर्थिक मंदी आदि कई प्रकार के कारक हैं, जो मज़दूर को उसके कार्य और वेतन से दूर कर देते हैंजिनसे बेरोज़गारी में वृद्धि होती है।
- काफ़ी हद तक मज़दूरी भी बेरोज़गारी में सहायक होती है।सामान्यतः उद्योगपतियों द्वारा मजदूरों का वेतन पहले ही निर्धारित कर दिया जाता है, परंतु पूंजी की अपर्याप्तता के कारण अपेक्षाकृत कम मजदूरों को कार्य हेतु सम्मिलित किया जाता है, जिससे बेरोज़गारी में बढ़ोत्तरी होती है।
- मांग और आपूर्ति में कुसमायोजन के कारण भीबेरोज़गारी बढ़ती है। जब बाजार में वस्तुओं की मांग में कमी आती है, तो उसकी कीमतों में गिरावट आने लगती है, फलस्वरूप उद्योग ठप्प पड़ने लगते हैं और कम पूंजी के कारण मजदूरोंकी कटौती होने लगती है।
- बचत करना अच्छा होता है , परंतु कई बार यह भी बेरोज़गारी को बढ़ावा देता है। बचत करने के लिए व्यक्ति द्वारा पूंजी का कम मात्रा में निवेश किया जाता है और इसके परिणामस्वरूप उत्पादन कम होता है और बेरोज़गारी बढ़ती है।
- अति-उत्पादन से बाजार में वस्तुओं की कीमत कम हो जाती है जिससे कि मजदूरों की आवश्यकता में कमी आ जाती है, फलतः बेरोज़गारी बढ़ती है।

1.7 बेरोज़गारी के परिणाम

बेरोज़गारी समाज और व्यक्ति दोनों के लिए एक घातक अभिशाप है, जो उनके संवर्धन के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करता है। मोटे तौर पर बेरोज़गारी के परिणाम को दो रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

1. आर्थिक परिणाम

बेरोज़गारी के आर्थिक परिणाम निम्न हैं–

i. **उत्पादन में कमी-** बेरोज़गारी के कारण एक बड़ी संख्या में व्यक्ति उपभोक्ता के रूप में सिमट कर रह जाता है और वह उत्पादक की श्रेणी में नहीं आ पाता है। उसके उत्पादक की श्रेणी में न आने के परिणामस्वरूप उत्पादन की हानि होती है।

ii. **मानव संसाधन का कम उपयोग-** किसी देश में जिस सीमा तक बेरोज़गारी की दर होती है उसी मात्रा में वहाँ मानव संसाधनों का उपयोग किया जाता है। मानवीय श्रम और शक्ति के कम इस्तेमाल के कारण आर्थिक व सामाजिक संवर्धन मेंरूकावट पैदा होती है।

iii. **पूँजी निर्माण का ह्रास-** बड़े पैमाने पर वस्तुओं के उपभोग के कारण(उपभोक्ता के रूप में) और उत्पादन में सहयोग न होने के कारण समाज में अव्यवस्था का संचार होने लगता है। बेरोज़गार व्यक्ति द्वारा उपभोग में योगदान देने के कारण पूँजी निर्माण की दर में गिरावट आती है।

iv. **अल्प-उत्पादकता-** बेरोज़गारी के कारण प्रति व्यक्ति उत्पादन का स्तर निम्न होता है। अल्प-उत्पादकता देश के विकास को प्रभावित करती है।

2. सामाजिक परिणाम

बेरोज़गारी के सामाजिक परिणाम निम्नलिखित हैं–

i. **वैयक्तिक विघटन-** बेरोज़गार व्यक्ति का बाज़ार और उत्पादन से मोहभंग हो जाता है और वह स्वयं को अलगावित महसूस करने लगता है। बेरोज़गार व्यक्ति अपनी रचनात्मकता का उपयोग समाज विरोधी क्रियाओं में करने लगता है और इसके परिणामस्वरूप लूटपाट, डकैतियाँ आदि अपराधों की संख्या में इज़ाफा होता जा रहा है। ये वैयक्तिक विघटन के परिणाम एक ओर तो समाज को तोड़ने का काम करते हैं तो दूसरी ओर अन्य बेरोज़गारों को इसी ओर खींचने का काम भी करते हैं।

ii. **निम्न जीवन गुणवत्ता-** इससे जीवन की गुणवत्ता में कमी आ जाती है और व्यक्ति निरंतर वेदना की अवस्था में रहने लगता है।

iii. **पारिवारिक विघटन-** बेरोज़गारी पारिवारिक एकता को सीधे तौर पर प्रभावित करती है। पारिवारिक सदस्यों की अव्यवस्थित कार्य प्रणाली के कारण परिवार में अशांति उत्पन्न होने लगती है, जिसके कारण बेरोज़गार पति और उसकी पत्नी के मध्य मनमुटाव होने लगता है और माता-पिता और पुत्र में आपसी कलह होने लगते हैं। कई बार पत्नी का रोज़गार करने को लेकर भी बेरोज़गार पति (रूढ़िवादी और परंपरावादी विचारधारा के कारण) से झगड़ा हो जाता है।

iv. **सामाजिक विघटन-** जैसा कि ऊपर भी बताया जा चुका है कि बेरोज़गार व्यक्ति खुद को समाज के कटा हुआ मानने लगता है और इस कारण उसके व्यवहार में भी परिवर्तन आ जाता है। वह अन्य से कटु और बेरूखा बर्ताव करने लगता है, जिससे सामाजिक संबंधों में टूटन पैदा होने लगती है। धीरे-धीरे यह कटुता इतनी बढ़ जाती है कि कार्य करने की इच्छा में कमी आने लगती है और इसका परिणाम यह होता है कि कार्य कुशलता और दक्षता में कमी आने लगती है, जिससे समाज की हानि होती है।

v. **सामाजिक असमानता-** समाज में बेरोज़गार व्यक्तियों की संख्या में जितनी अधिक वृद्धि होगी उतनी ही अधिक सामाजिक असमानता भी समाज में व्याप्त होती जाएगी। बेरोज़गारी के कारण आय और संपत्ति के वितरण में असमानता आएगी, जिससे कि सामाजिक संबंधों में परिवर्तन आएगा और समाज में असमानता की खाई और भी गहरी होती चली जाएगी।

vi. **सामाजिक अशांति-** बेरोज़गारी से त्रस्त व्यक्ति समाज विरोधी कार्यों में संलिप्त होने के कारण समाज में अशांति का वातावरण बन जाता है। आतंकवाद, चोरी, लूट आदि प्रायः बेरोज़गारी के परिणामस्वरूप ही किए गए कृत्यों से संबंधित है।

1.8 बेरोज़गारी उन्मूलन के उपाय

पिछले 20 वर्षों में देश में 2.5 प्रतिशत की दर से श्रमबल में वृद्धि हुई है, परंतु इसकी तुलना में रोज़गार में मात्र 2.2 प्रतिशत ही वृद्धि हुई है, जिसके कारण बेरोज़गारी में बढ़ोत्तरी हुई है। बेरोज़गारी उन्मूलन के उपाय निम्न वर्णित हैं–

1. **उत्पादन और उत्पादकता में वृद्धि-** बेरोज़गारी उन्मूलन के लिए आवश्यक है कि उत्पादन और उत्पादकता को बढ़ावा दिया जाए। उत्पादन में वृद्धि हेतु लघु और कुटीर उद्योगों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। साथ ही साथ औद्योगिक वस्तुओं, खनिज आदि के उत्पादन पर जोर देना चाहिए। उत्पादन का स्तर जितना उच्च होगा, श्रम की मांग भी उतनी ही मात्रा में उच्च होगी। श्रम की मांग का प्रत्यक्ष संबंध उत्पादकता से होता है। अधिक मात्रा में उत्पादकता से बड़ी मात्रा में लाभों की प्राप्ति होती है और इस कारण श्रम की मांग में बढ़ोत्तरी होती है।
2. **पूंजी निर्माण की उच्च दर-** पूंजी निर्माण को प्रोत्साहित करना चाहिए, जिससे अधिक से अधिक रोज़गार उपलब्ध हो सके। इसके लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि पूंजी निर्माण की दर पूंजी-उत्पाद की दर से उच्च हो।
3. **जनसंख्या नियंत्रण-** बेरोज़गारी के उन्मूलन हेतु यह आवश्यक है कि जनसंख्या वृद्धि पर रोक लगाया जाए। इससे श्रमबल और कार्यबल में समानता लाई जा सकती है। लोगों में जागरूकता लाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए कि छोटे परिवारों को रोज़गार के अवसर अपेक्षाकृत सरलता से प्राप्त होते हैं।
4. **शिक्षा व्यवस्था में सुधार-** शिक्षा व्यवस्था में सुधार लाने की आवश्यकता है और विद्यार्थियों को रोज़गारपरक शिक्षा प्रदान करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके अलावा शैक्षणिक संस्थानों को उनमें नैतिकता और अनुशासन के गुण का भी संचरण करने पर ज़ोर दिया जाना चाहिए।
5. **सहकारी उद्योग-** बेरोज़गारी उन्मूलन के लिए आवश्यक है कि सहकारी उद्योगों को भी प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। केरल की राज्य सरकार द्वारा कोचीन में कपड़ा मील लगाने में 600 बेरोज़गार लोगों की सहकारी तौर पर सहायता की थी। इसमें प्रत्येक बेरोज़गार व्यक्ति ने 500 रुपये अंशदान के रूप में दिए और बाकी व्यय सरकार द्वारा वहन किया गया था। अन्य राज्यों को भी इस नूतन प्रयास की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहिए।
6. **स्वरोज़गार में लगे व्यक्तियों की सहायता-** देश के लगभग 62 प्रतिशत लोग स्वरोज़गार में लगे हुए हैं जो कृषि, लघु व कुटीर उद्योग, परिवहन, भोजनालय आदि क्षेत्रों में कार्यरत हैं। सरकार को स्वरोज़गार में लगे व्यक्तियों के लिए सहायक कदम उठाने चाहिए।
7. **रोज़गारोन्मुखी कार्यक्रम-** पंचवर्षीय योजनाओं और कार्यक्रमों के माध्यम सेरोज़गारोन्मुखी कार्यक्रम चलाए जाने चाहिए। इस प्रकार के कार्यक्रमों में सिंचाई परियोजनाएं, सड़क निर्माण, लघु व कुटीर उद्योग, भूमि संरक्षण आदि को शामिल किया जा सकता है।
8. **औद्योगिक तकनीक में परिवर्तन-**उत्पादन की तकनीक देश में साधन और आवश्यकताओं के अनुरूप होनी चाहिए और पूँजी-गहन तकनीक की जगह पर श्रम-तकनीक को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

1.9 सारांश

इस इकाई के अंतर्गत निर्धनता और बेरोज़गारी की संकल्पना और अर्थ के बारे में वर्णन प्रस्तुत किया गया है और साथ ही साथ उसके लिए उत्तरदायी कारक, परिणाम व उन्मूलन हेतु आवश्यक सुझाव भी प्रस्तुत किए गए हैं।

1.10 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: निर्धनता पर प्रकाश डालिए और उसके उत्तरदायी कारकों का वर्णन प्रस्तुत कीजिए।

प्रश्न 2: निर्धनता उन्मूलन के उपायों को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3: बेरोज़गारी क्या है? और इसके कारण क्या हैं?

प्रश्न 4: बेरोज़गारी के परिणाम स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 5: बेरोज़गारी निवारण हेतु सुझाव प्रस्तुत कीजिए।

1.11 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

अटरचंद, (1987). *पावर्टी एंड अंडरडेवलपमेंट: न्यू चैलेंजेस.* दिल्ली: जियान पब्लिशिंग हाउस

बेकर, ह. (1966). *सोशल प्रोब्लस: अ मॉडर्न अप्रोच.* न्यूयॉर्क: जॉन विले एण्ड सन्स

घटे, प. (1984). *डाइरेक्ट अटैक्स ऑन रुरल पोवेर्टी.* नई दिल्ली: कोंसेप्ट

नाबा, ग.द. (1968). *अनइम्प्लॉइमेंट एण्ड फुल इम्प्लॉइमेंट इन इंडिया.* नई दिल्ली: एशिया पब्लिशिंग हाउस

जेफ्री, सी., जेफ्री, पी. एवं जेफ्री आर (2010). *एजुकेशन, अनइम्प्लॉइमेंट एण्ड मैस्कूलिनीटीज इन इंडिया.* नई दिल्ली: सोशल साइन्स प्रेस

सिंह, र. (2014). *भारत के विकास की कहानी*. नई दिल्ली: इंडियन पॉलिसी फ़ाउंडेशन

आहूजा, र. (2000). *सामाजिक समस्याएँ.* जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स

त्रिपाठी, र. (2008). *ग्रामीण विकास और निर्धनता उन्मूलन.* दिल्ली: ओमेगा पब्लिकेशन्स

तलवार, एस.सी. (2001). *निर्धनता उन्मूलन और ग्रामीण विकास.* जयपुर: पॉइंटर पब्लिशर्स

इकाई 2 भ्रष्टाचार

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 भ्रष्टाचार की संकल्पना और अर्थ
2.3 भ्रष्टाचार के कारण
2.4 भ्रष्टाचार उन्मूलन के उपाय
2.5 सारांश
2.6 बोध प्रश्न
2.7 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप –

- भ्रष्टाचार के अर्थ एवं संकल्पना को स्पष्ट कर सकेंगे।
- भ्रष्टाचार के कारणों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- भ्रष्टाचार उन्मूलन के उपायों को विश्लेषित कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

भ्रष्टाचार एक नासूर की तरह है जो देश मेंतेज़ी से विस्तारित हो रहा है। समय रहते ही इस पर नियंत्रण लगाना अत्यंत आवश्यक है। मानव जीवन का प्रत्येक क्षेत्र भ्रष्टाचार से प्रभावित होता है। इस वर्ष के उदाहरण से ही यह स्पष्ट होता है कि भ्रष्टाचार का अपेक्षाकृत रूप और विकराल हुआ है। यथा- IPL में खिलाड़ियों की स्पॉट फिक्सिंग, नौकरियों में अच्छे पद को प्राप्त करने की चाहत के कारण कई लोग घूस/रिश्वत देने से भी नहीं कतराते हैं। समकालीन परिदृश्य में सम्पूर्ण भारत इस बीमारी से जकड़ा हुआहै। भ्रष्टाचार एक विश्वव्यापी तथ्य है और यह प्राचीन समाजों में भी किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहा है। मिश्र, बेबीलोनिया आदि समाजों में न्यायाधीश रिश्वत लिया करते थे। रोम के समाज में सार्वजनिक पदों पर चुनाव के दौरान घूस बहुत सामान्य बात थी। फ्रांस में15वीं शताब्दी में इंग्लैंड को भ्रष्टाचार का गढ़ माना जाता था।

विकास की दौड़ में मशगूल आज के दौर में व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ तक ही सीमित रह चुका है। समाज में अनैतिकता, दुर्व्यवहार, अराजकता आदि भावनाओं का समावेश हो गया है। इनके पीछे कहींन-कहीं भ्रष्टाचार की भूमिका स्पष्ट है। भ्रष्टाचार के इस विकृत और व्यापक रूप को बनाने में इस अर्थप्रधान युग

का उल्लेखनीय योगदान है, जिसने प्रत्येक व्यक्ति को अधिक से अधिक धन संचित करने की प्रेरणा दी है। मूल रूप से भ्रष्टाचार सार्वजनिक जीवन में स्वीकृत मूल्यों के विरुद्ध भ्रष्ट आचरण है। भारत में भ्रष्टाचार दिनों-दिन व्यापक होता चला जा रहा है। आज पूरी दुनिया में भारत भ्रष्टाचार के मामले में94वें स्थान पर है। भ्रष्टाचार के कई रंग-रूप है, जैसे-रिश्वत, काला-बाज़ारी, जान-बूझकर दाम बढ़ाना, पैसा लेकर काम करना, सस्ता सामान लाकर महंगा बेचनाआदि।

2.2 भ्रष्टाचार की संकल्पना और अर्थ

भ्रष्टाचार शब्द दो शब्दों के युग्म से बना है- भ्रष्ट और आचार। भ्रष्ट अर्थात् बुरा या बिगड़ा हुआ और आचार का अभिप्राय आचरण से है। भ्रष्टाचार का शाब्दिक अर्थ है वह आचरण , जो किसी भी प्रकार से अनैतिक और अनुचित हो।सरल शब्दों में भ्रष्टाचार को 'रिश्वत का काम' कहा जा सकता है। वैयक्तिक लाभ हेतु सार्वजनिक शक्ति का प्रयोग, कानून का उल्लंघन, सामाजिक मानदंडों की अवहेलना आदि को इसमें सम्मिलित किया जा सकता है।

- **जे. नाय-** *"भ्रष्टाचार आर्थिक अथवा प्रतिष्ठा संबंधी लाभों की प्राप्ति हेतुसार्वजनिक भूमिका के प्रति औपचारिक कर्तव्यों से विमुखन है।"*
- **मौरिस सैफेल-** *"भ्रष्टाचार एक प्रकार का विचलित व्यवहार है जो मानदंडों और सार्वजनिक भूमिका निर्वाह के कर्तव्यों के संचालन अथवा व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करने के लिए पद के उचित उपयोग से संबंधित है।"*
- **डी.एच. बेली-** *"यह सत्ता का दुरुपयोग है और निजी लाभ के लिए किया जाता है जो धन से संबंधित नहीं भी हो सकता है।"*
- **एन्ड्रिस्की-** *"ऐसे तरीकों में सार्वजनिक शक्ति का प्रयोग व्यक्तिगत लाभ के लिए किया जाता है और यह कानून के उल्लंघन से संबंधित होता है।"*

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि भ्रष्टाचार समाज विरोधी आचरण है जो निजी लाभ के लिए किया जाता है और प्रायः यह क़ानूनों की अवमानना करता है। यह धन से संबंधित हो सकता है और नहीं भी। कई बार यह पद-प्रतिष्ठा को हासिल आ उसे बनाए रखने के लिए भी किया जाता है। वैसे तो हमारे समाज में भ्रष्टाचार अनेक रूपों में विद्यमान है, परंतु इसके कुछ प्रमुख स्वरूपों को निम्न उल्लेखित किया जा रहा है–

- **भाई-भतीजावाद**–सामाजिक संबंधों, सामाजिक बंधन और नातेदारी भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जाति और नातेदारी से परिभाषित यह विचलन पूर्ण रवैया लोगों द्वारा पारिवारिक दायित्व के रूप में माना जाता है और संबंधित सदस्य इसका निर्वहन अपने कर्तव्य के रूप में करते हैं।

- **घूस/रिश्वत**– यह एक अवैध प्रक्रिया होती है जो प्रायः किसी कार्य को संपन्न कराने हेतु की जाती है। रिश्वत देने वाले के पक्ष में अवैध, बेईमानी से संबंधित कार्य करने को प्रेरित करने के लिए नकद अथवा वस्तु भेंट/उपहार स्वरूप दिया जाता है।
- **पक्षपात**–यह एक प्रकार की धारणा होती है , जो किसी एक पक्ष के स्थान पर दूसरे पक्ष को प्राथमिकता प्रदान करती है।
- **संरक्षण**–संरक्षण करने वाले अथवा संरक्षक द्वारा किसी व्यक्ति अथवा समूह को अनुचित समर्थन अथवा प्रोत्साहित करना और इस आधार पर अपनी पद-प्रतिष्ठा का गलत उपयोग करना भी एक प्रकार का भ्रष्टाचार है।

इसके अलावा टैक्स चोरी, ब्लैकमेल करना, झूठी गवाही अथवा मुकदमा करना, परीक्षा में नकल करना/कराना, परीक्षार्थी का गलत मूल्यांकन करना (सही उत्तर पर अंक न देना और गलत अथवा अलिखित उत्तरों पर भी अंक दे देना), विभिन्न पुरस्कारों के लिए चयनित लोगों में पक्षपात करना,पैसों पर वोट देना, वोट के लिए पैसा और शराब आदि बाँटना, पैसे लेकर रिपोर्ट छापना आदि भी भ्रष्टाचार के अंतर्गत ही सम्मिलित किए जाते हैं।

भ्रष्टाचार का विस्तार केवल भारत, चीन और पाकिस्तान जैसे विकासशील देशों में ही नहीं हो रहा है, अपितु यह यूरोप के अन्य देशों में भीतेज़ी से फैल रहा है। विकसित देशों में भ्रष्टाचार की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी , परंतु प्राप्त तथ्य कुछ और ही हैं। समकालीन संदर्भ में जर्मनी, फ्रांस, रूस, अमेरिका आदि विकसित देशों में भी भ्रष्टाचार की कई गतिविधियों के उदाहरण मिलते हैं।

2.3 भ्रष्टाचार के कारण

भ्रष्टाचार के कई कारण हैं और सबसे प्रमुख कारण है मनुष्य में असंतोष की प्रवृत्ति। मनुष्य अपनीवर्तमान हैसियत से संतुष्ट नहीं रहता है, वह बहुत लालची प्राणी है और वह सदैव और पाने की लालसा लिए रहता है। बहुत ही मामूली लोग अपने वर्तमान से तृप्त रहते हैं। जो लोग अपनी आवश्यकताओं और आकांक्षाओं का समन्वय वर्तमान से नहीं कर पाते,वे लोग इच्छाओं की पूर्ति केलिए अनैतिक रास्ता अपनाने लगते हैं और वे भ्रष्टाचार जैसी समाज विरोधी व्यवहारों में संलिप्त होने लगते हैं। इसके प्रमुख कारणों की विवेचना इस प्रकार की गई है–

1. **निजी हितों वाले राजनैतिक वर्गों का उदय-** भ्रष्टाचार के प्रमुख और महत्वपूर्ण कारण के रूप में राजनैतिक दलों द्वारा अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करना है। प्रायः राजनैतिक आभिजात वर्ग द्वारा राष्ट्रहित के लिए नियोजित कार्यक्रमों और नीतियों का उपयोग वैयक्तिक हित साधने के लिए किया जाता है। स्वतंत्र भारत के प्रथम दो दशकों में राजनैतिक अभिजात वर्ग ईमानदार, राष्ट्रवादी थे और वे देश की प्रगति व विकास के लिए काम करते थे। 80 के दशक तक आते-आते राजनैतिक वर्गों ने स्व-हित से संबंधित कार्यों को वरीयता देना आरंभ कर दिया और वे

अपने परिवार, जाति, क्षेत्र, संप्रदाय, दल आदि को महत्व देने लगे। इस प्रकार राजनीतिज्ञों ने अपनी शक्ति और पद का गलत इस्तेमाल अवैध लाभों के लिए करना आरंभ का दिया। नए व्यापारियों का भी उदय हुआ जो अपनी शक्ति को सत्तासीन लोगों के सदृश्य बनाने पर तुले हुए थे और उनकी सहायता से मुनाफे में वृद्धि करने का प्रयोजन था। भ्रष्टाचार का अभ्युदय सरकारी अफसरों के निर्णय पर भी निर्भर करता है यथा,आयकर निर्धारण, लाइसेंस निश्चित करना आदि।

2. **सरकार की आर्थिक नीतियाँ-** सरकार की आर्थिक नीति में अधिकतर घोटाले हुए हैं और ये घोटाले उन क्षेत्रों में हुए हैं जहाँ क्रय नीति अथवा मूल्य सरकार के नियंत्रण में हैं। देश के कुछ प्रमुख आर्थिक घोटाले निम्न हैं–
    - बोफोर्स घोटाला (64 करोड़ रुपये)
    - यूरिया घोटाला (133 करोड़ रुपये)
    - चारा घोटाला (950 करोड़ रुपये)
    - शेयर बाजार घोटाला (400 करोड़ रुपये)
    - सत्यम घोटाला (7000 करोड़ रुपये)
    - स्टैम पेपर घोटाला (43 हजार करोड़ रुपये)
    - कॉमनवेल्थ गेम्स घोटाला (70 हजार करोड़ रुपये)
    - 2जी स्पेक्ट्रम घोटाला (1 लाख 67 हजार करोड़ रुपये)
    - अनाज घोटाला (लगभग 2 लाख करोड़ रुपये)
    - कोयला खदान आबंटन घोटाला (12 लाख करोड़ रुपये)
3. **अप्रभावी प्रशासनिक संगठन-**प्रशासन के कमज़ोर प्रदर्शन के कारण भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है। प्रशासनिक कर्मचारियों को अधिक शक्ति प्रदान करना, देखभाल व सतर्कता का अभाव, गैर-ज़िम्मेदाराना रवैया, त्रुटिपूर्ण सूचना व्यवस्था आदि अधिकारियों को भ्रष्टाचार की ओर उन्मुख होने का पर्याप्त अवसर उपलब्ध कराते हैं।
4. **व्यवस्था में बदलाव-** भारतीय समाज मूल्य और मान्यताओं से संचालित समाज है। नैतिकता ईमानदारी, परोपकार और त्याग की संकल्पना आज के समाज के लिए आदर्श पुराने और निरर्थक हो चुके हैं और उपहार को प्राप्त व स्वीकार करना सौहार्द्र और प्रेम के स्थान पर आवश्यकता के रूप में लिया जाता है।
5. **आवश्यक वस्तुओं का अभाव** जब आवश्यक वस्तुओं की मांग बहुतज़्यादा होती है और पूर्ति में कमी रहती है, तो सत्तासीन अभिजात वर्ग उन वस्तुओं की आपूर्ति को सुनिश्चित करते हैं

और कुछ अपेक्षाओं को निर्धारित करते हैं अथवा उनकी कीमतों में इजाफा कर देते हैं। यथा तेल, सीमेंट, चीनी आदि।

2.4 भ्रष्टाचार उन्मूलन के उपाय

देश में भ्रष्टाचार उन्मूलन कुछ हेतु प्रमुख सुझाव निम्न हैं-

- विशेषाधिकार और विवेकाधिकार को कम से कम कर दिया जाना चाहिए।
- कर्मचारियों को वेतन आदि का भुगतान नकद न देकर यह पैसा उनके बैंक खातों में डाल दिया जाए।
- बैंक खाते से एक बार में दस हजार तथा एक माह में पचास हजार से अधिक की निकासी न की जा सके और उससे ज़्यादा की राशि की लेन-देन इलेक्ट्रोनिक माध्यमों से की जानी चाहिए।
- आम नागरिकों के प्रमुख कार्यों की पूर्ति और शिकायतों पर कार्यवाही करने के लिए समय सीमा का निर्धारण किया जाना चाहिए। जनसेवकों द्वारा इसे पूरा न करने पर उन्हें दंडित करने का प्रावधान किया जाना चाहिए।
- सभी जनसेवकों (मंत्री, सांसद, विधायक, अधिकारी, कर्मचारी आदि) द्वारा अपनी संपत्ति की घोषणा प्रत्येक वर्ष की जानी चाहिए।
- चुनावी प्रक्रिया में सुधार किए जाए और इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाए कि भ्रष्ट तथा अपराधी तत्वों को चुनाव लड़ने से प्रतिबंधित रखा जाए।
- काले धन की वापसी का प्रयोजन किया जाए और उस धन का उपयोग जनकल्याण हेतु किया जाना चाहिए।
- भ्रष्टाचारियों के लिए कठोर दंड का प्रावधान नियोजित करना चाहिए, ताकि इसके उन्मूलन में सफलता हासिल की जा सके। इसके साथ ही सरकार द्वारा भ्रष्टाचार से अर्जित किए गए धन को अधिकृत करने का प्रावधान बनाया जाए।

2.5 सारांश

आज भ्रष्टाचार पूरे देश में न केवल उच्च स्तर पर विद्यमान हैं, अपितु वह निम्न स्तर पर भी विद्यमान है। टेलीफोन, राज्य विद्युत परिषद, राजस्व विभाग के निरीक्षक, रेलवे के निम्न स्तर के कर्मचारी आदि कमोबेश मात्रा में घूस आदि के रूप में भ्रष्टाचार को बढ़ावा देते हैं। कई संस्थानों में निम्न स्तर के कर्मचारियों द्वारा किए गए भ्रष्टाचार की एक तय राशि सुनिश्चित रहती है। हमारे नैतिक जीवन मूल्यों पर सबसे घातक प्रहार करने का काम भ्रष्टाचार करता है। इन कृत्यों में संलिप्त लोग अपने हितों के वशीभूत होकर राष्ट्र का नाम बदनाम कर रहे हैं।अत: यह नितांत आवश्यक है कि भ्रष्टाचार के रूप में इस

सामाजिक दुर्व्यवस्था को समाज से उखाड़ फेंकने का यत्न किया जाना चाहिए। साथ ही साथ भ्रष्टाचार के उन्मूलन हेतु प्रशासन को भी प्रभावी कदम उठाने होंगे, जिससे एक भ्रष्टाचार मुक्त भारत के सपने को साकार किया जा सके।

2.6 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: भ्रष्टाचार की संकल्पना और अर्थ को बताइए।

प्रश्न 2:भ्रष्टाचार के कारणों का विवेचन प्रस्तुत कीजिए।

प्रश्न 3: भ्रष्टाचार उन्मूलन हेतु आवश्यक सुझावों को बतलाइए।

2.7 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

क्लार्क, एम. (1983). *करप्शन: काजेज़ एण्ड कंसीक्वेन्सेज.* लंदन: फ्रांसेसीज पब्लिशर्स

वर्थ, आर. एवं सिंपकिंस् ई. (1963). *करप्शन इन डेवलपिंग कंट्रीज.* लंदन

मलहोत्रा, के.एल. (1992). *फेसेट ऑफ विजिलेन्स.* दिल्ली: मलहोत्रा पब्लिकेशन्स

आहूजा ,र. (2000). *सामाजिक समस्याएँ.* जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स

विट्ठल, न. (2015). *भ्रष्टाचार का अंत.* नई दिल्ली: प्रभात पब्लिकेशन

कुमार, श. (2011). *भ्रष्टाचार का कड़वा सच.* नई दिल्ली: प्रभात पब्लिकेशन

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 3
पितृसत्ता

इकाई की रूपरेखा

3.0	उद्देश्य
3.1	प्रस्तावना
3.2	पितृसत्ता की संकल्पना और अर्थ
3.3	नारीवादी परिप्रेक्ष्य
3.4	भारत में पितृसत्ता का स्वरूप
3.5	सारांश
3.6	बोध प्रश्न
3.7	संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप –

- पितृसत्ता के अर्थ और संकल्पना को स्पष्ट कर सकेंगे।
- पितृसत्ता की अवधारणा को नारीवादी परिप्रेक्ष्य से समझ पाने में समर्थ होंगे।
- भारतीय परिदृश्य में पितृसत्ता का वर्णन कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

पितृसत्ता की उपस्थिति अधिकांशतः देशों में देखी जा सकती है। यह एक प्रकार की सत्ता है जिसमें शक्ति का मजबूत संचार होता है। इस शक्ति के कारण पुरुष का आधिपत्य स्त्री पर स्थापित होता है और वह इस आधिपत्य को बनाए रखता है। पितृसत्ता में स्त्री पुरुष के अधीन रहने के लिए विवश रहती हैं। परिवार, समाज, समूह, समुदाय आदि स्तरों पर स्त्री-पुरुष के मध्य असमानतापूर्ण वातावरण को जन्म देने और उसे निरंतर क्रियाशील रखने में पितृसत्ता की भूमिका सदैव से ही उल्लेखनीय रही है।

सामान्यतः पितृसत्ता से अभिप्राय पुरुषप्रधान समाज के रूप में किया जाता है, जिसमें संपत्ति उत्तराधिकार के रूप में पिता से पुत्र की ओर संचारित होती है परंतु यदि नारीवादी परिदृश्य से पितृसत्ता की शिनाख्त की जाए, तो यह एक अत्यंत व्यापक संकल्पना है। इसका संबंध न केवल पुरुषों के वर्चस्वप्रभुत्व से है, बल्कि इसका संबंध उस सामाजिक संरचना से भी है जिसमें सत्ता का निदेशन सदैव शक्तिशाली हाथ में होता है, चाहे वह शक्तिशाली पक्ष स्त्री हो अथवा पुरुष। इस प्रकार यह साफ तौर पर कहा जा सकता है कि पितृसत्तात्मक वैचारिकी स्त्री और पुरुष दोनों पर प्रभाव डालती है। एक कहावत है कि स्त्री ही स्त्री की द्वेषी अथवा शत्रु होती है। इसके पीछे तर्क यह है कि अनायास ही कोई स्त्री दूसरी स्त्रीको प्रताड़ित नहीं करती

है, इसके पीछे पितृसत्तात्मक विचारधारा कार्य कर रही होती है। इस वैचारिकी से ग्रसित होकर वे स्वयं को श्रेष्ठ समझने लगती हैं और अन्य स्त्रियों को हीन मानने लगती है और उनके साथ उसी प्रकार के व्यवहार करने लगती हैं। भारतीय समाज को ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक समाज की संज्ञा दी जाती है, इसका कारण यह है कि यहाँ की जाति-व्यवस्था सामाजिक संरचना का एक महत्वपूर्ण अंश है और यह व्यवस्था भारतीय समाज को एक पद-सोपानीय संस्तरण प्रदान करता है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होकर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक विस्तारित होता रहता है। यदि इस संस्तरण की बात करें तो इसमें में सवर्ण पुरुष की प्रस्थिति सबसे उच्च होती है और दलित स्त्री की प्रस्थिति सबसे निम्न होती है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था की यह महत्वपूर्ण विशेषता है कि यह समाज में असमानता को उत्पन्न करती है। यह समाज के प्रत्येक सदस्य को उच्च अथवा निम्न प्रस्थिति प्रदान करती है। इस प्रकार पितृसत्तात्मक व्यवस्था लोकतांत्रिक मूल्यों के बिलकुल विपरीत है जिसमें जाति, धर्म, संप्रदाय,लिंग, वर्ण, वर्ग आदि के भेद से ऊपर 'एक व्यक्ति, एक मत'की संकल्पना को अंगीकृत करके मानवीय गरिमा को सर्वोच्च स्थान दिया गया गया है। पितृसत्ता की पहचान करके उसका विश्लेषण गंभीरता और सावधानीपूर्वक करने तथा उसके वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत करने में नारीवादी आंदोलनों का योगदान अद्वितीय रहा है।

स्त्रियाँ चाहे किसी भी जाति, वर्ग अथवा संप्रदाय से संबंधितहों, पितृसत्ता समान रूप से उनके जीवन को अत्यंत दुष्कर और असह्य बना देती है। यद्यपि स्त्रियाँ जिस वर्ग,जाति, धर्म, राष्ट्र आदि विशेष से संबंधित होती हैं, उसके अनुरूप पितृसत्ता के स्वरूप और अंतर्वस्तु में विभेद भी होते हैं(अन्यों की अपेक्षा में गरीब ग्रामीण, दलित और मुस्लिम स्त्रियों को कई मायने में अप्रत्याशित तौर पर प्रताड़ना झेलनी पड़ती है)। दूसरी ओर पुरुषों के मसले में पितृसत्ता का अभिप्राय किसी भी उपलब्ध संसाधन,संपत्ति और आय (जिनमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित हैं)पर अधिकाधिक नियंत्रण बनाए रखना है।

3.2 पितृसत्ता की संकल्पना और अर्थ

पितृसत्ता जैसा कि नाम से ही स्पष्ट हो रहा है कि यह पुरुष केंद्रित संकल्पना है जो उनकी शक्ति और सत्ता को प्रदर्शित करता है। सत्ता का सीधा अर्थ होता है एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष पर आधिपत्य, नियंत्रण अथवा वर्चस्व स्थापित करना अथवा अपनी इच्छा को दूसरे पर थोपना। वास्तव में पितृसत्ता एक ऐसी व्यवस्था है जो परंपरा, व्यवहारों आदि के नियमों द्वारा स्त्रियों की अपेक्षाकृत पुरुषों की शक्ति, सत्ता और अधिकारों की उच्चता का प्रतिनिधित्व करती है। लर्नर की चर्चित पुस्तक *'क्रिएशन ऑफ पैट्रियार्की'* में पितृसत्ता को पुरुषों के संस्थाकरण के रूप में वर्णित किया गया है। यह स्त्रियों पर पुरुषों के अधिकार का ऐसा विस्तार है जिसके आधार पर पुरुषों के अधिकारों को सभी पक्षों में व्यावहारिक तौर पर स्त्रियों की तुलना में श्रेष्ठतम् के रूप में मान्यता दी जाने लगती है। अर्थात् पितृसत्ता एक वैचारिकी न होकर सामाजिक व्यवस्था द्वारा संचालित व्यवहारों का एक समुच्चय है।

पितृसत्ता अंग्रेजी शब्द पैट्रियार्की का हिंदी रूपांतरण है,जो यूनानी शब्दों 'पैटर' और 'आर्के' से मिलकर बना है। 'पैटर'का आशय पिता तथा 'आर्के' का आशय शासन से होता है। अतः पितृसत्ता का शाब्दिक

अर्थ है 'पिता का शासन'। यह एक मानवशास्त्रीय शब्द है, समाज में पुरुषों की सत्ता और वर्चस्व को बनाए रखने की कवायद करता है। पीटर लेस्लेट ने अपनी पुस्तक *'द वर्ल्ड वी लॉस्ट'* में बताया कि औद्योगीकरण से पूर्व के इंग्लैंड के समाजकी परिवार-व्यवस्था पितृसत्तात्मक थी। तत्कालीन परिवार मिश्रित प्रकृति के हुआ करते थे और सामान्यतः परिवार के सदस्य के रूप में न केवल पति-पत्नी और उनके बच्चे ही नहीं गिने जाते थे, अपितु दादा-दादी, चाचा-चाची, भतीजा-भतीजी, नौकर-चाकर आदि सभी उसकी परिधि में आते थे। परिवार-व्यवस्था न केवल उत्पादन की इकाई के रूप में स्थापित थी वरन एक सामाजिक इकाई भी थी। पिता अथवा सबसे बुजुर्ग पुरुष का संपत्ति पर पूर्ण अधिकार रहता था और इसके अलावा उसका परिवार के अन्य सदस्यों(चाहे वे स्त्री हों अथवा पुरुष)पर निरंकुश नियंत्रण रहता था। यह अधिकार उत्तराधिकार के निश्चित और पूर्वनिर्धारित नियमों के अंतर्गत एक पुरुष से दूसरे पुरुष को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होता रहता था। स्वतंत्र भारत में भी इस तरह की परिवारव्यवस्था (संयुक्त परिवार) बनी रही और यहाँ की परंपरा में भी राजा को प्रजा-पालक (पिता) मानने की प्रथा बलवती रही है।

भारतीय समाज में नाना प्रकार की असमानताएँ व्याप्त हैं। उन्हीं में से एक स्त्री-पुरुष के मध्य की असमानता भी है। सामान्यतः पितृसत्ता का प्रयोग इसी असमानता को अभिव्यक्त करने के लिए किया जाता है। विभिन्न नारीवादियों में इसकी परिभाषा को लेकर मतभेद रहा है। कुछ नारीवादी तो यह मानते हैं कि इसका इस्तेमाल ही अनुपयोगी है। इसके पीछे दो कारणों को माना जा सकता है,एक कारण-आरंभ से पितृसत्ता शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया जा रहा था और दूसरा कारण-वह पृष्ठभूमि जिसमें स्त्री की अधीन स्थिति और पुरुषों के वर्चस्व को दर्शाने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाना प्रारंभ हुआ था। पितृसत्ता का संबंध सदैव से पुरुषों की सत्ता,शक्ति, प्राधिकरण, आधिपत्य, नियंत्रण, दमन, स्त्रियों की दासता, अवमानना, अधीनता, हीनता से माना जाता रहा है। पितृसत्ता एक प्रकार की प्रणाली है जो सामाजिक व्यवहार, प्रथा और वैचारिक निर्मिति से परिभाषित है, जिसमें पुरुषों के द्वारा स्त्रियों के प्रजनन, उत्पादन, मातृत्व, पालन-पोषण आदि से संबंधित फैसलों का चयन स्वयं ही करते हैं।

- **एस. वेलबे**–*"पितृसत्ता एक सामाजिक ढाँचे और आचरण को कहते हैं, जिसमें पुरुष द्वारा स्त्रियों का शोषण किया जाता है। पितृसत्ता पुरुषों और स्त्रियों के मध्य के अन्यायपूर्ण संबंधों को प्रदर्शित करती है और दोनों के बीच एक गहरी खाई को निर्मित करती है। स्त्रियों को स्वयं के साथ जैविक और प्राकृतिक मतभेदों के कारण लिंग असमानता, शोषण, हिंसा, अवमानना आदि से गुज़रना पड़ता है। लिंग असमानता के कारण उन्हें भोजन, देख-रेख, स्वास्थ्य, रोज़गार, निर्णय लेना, रोज़गार आदि अधिकारों से वंचित रहना पड़ता है।"*
- **जी. लर्नर**–*"पितृसत्ता परिवार में स्त्रियों और बच्चों पर पुरुषों के वर्चस्व के प्रकटीकरण, संस्थानीकरण और उनका विस्तारीकरण है। इसमें यह तथ्य अंतर्निहित है कि समाज में व्याप्त सभी*

महत्वपूर्ण संस्थाओं पर पुरुषों का आधिपत्य है और उन वर्चस्वशाली परिस्थितियों तक स्त्रियाँ पहुँच पाने में असमर्थ हैं।"

पितृसत्ता और पितृत्ववाद दो ऐसी अवधारणाएँ हैं जो एक-दूसरे के पूरक के रूप में काम करती हैं और पुरुषों द्वारा स्त्रियों पर आधिपत्य में अपनाए गए तरीकों के प्रति विवेचनात्मक रवैया धारण करती हैं। पितृत्ववाद शक्तिशाली पक्ष द्वारा अपने से कमज़ोर पक्ष पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए बनाए गए संबंधों को विश्लेषित करता है इन संबंधों के रूप में शक्तिशाली पक्ष स्वयं से कमज़ोर पक्ष पर आधिपत्य तो बनाता ही है और साथ ही साथ आधिपत्य के बोध को स्वयं द्वारा किए गए आभारों और उपकारों से कम भी करता रहता है। इस प्रकार से कमज़ोर पक्ष उपकार और सुरक्षा के बरक्स में शक्तिशाली समूह के प्रति समर्पण और बेगार करता रहता है। मोटे तौर पर यदि कहा जाए, तो पितृसत्ता के तहत विकसित परिवारों के संबंधों से ही पितृत्ववाद की संकल्पना का जन्म हुआ है। अर्थात् यह पितृसत्ता की ही एक उपकोटि है, जिसे बनाए रखने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि कमज़ोर और अधीनस्थ पक्ष को इस बात पर अशक्त करना होगा कि उनका रक्षक ही उनका मालिक है, वही उनकी सभी आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम है। पितृत्ववाद का सबसे उल्लेखनीय तत्व यह है कि एक ओर जहां यह पुरुषों के वर्चस्व की व्यवस्था के कठोरतम लक्षणों को लचीला स्वरूप प्रदान करता है, वहीं दूसरी ओर अधीनस्थ पक्ष के सामर्थ्य का भी ह्रास करता है और वे कमज़ोर सामर्थ्य के कारण स्वयं के आधिपत्य के बारे में संज्ञान नहीं कर पाते हैं।

मोटे तौर पर पितृसत्ता की विशेषताओं को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है

1. प्रभुत्व और वर्चस्व की बागडोर पुरुषों के हाथ में होती है।
2. इसमें संपत्ति का हस्तांतरण पीढ़ी दर पीढ़ी पिता से पुत्र की ओर होता है।
3. विवाहेत्तर स्थान पितृस्थानीय होता है।
4. इसका एक उपभाग पितृवंशीय परंपराक्रम होता है।
5. पुरुषों के अधिकारों और उपलब्धियों को स्त्रियों की तुलना में अधिक महत्व दिया जाता है।

3.3 नारीवादी परिप्रेक्ष्य

अनेक नारीवादी विद्वानों द्वारा पितृसत्ता को लैंगिक असमानता, शोषण, अवमानना व हिंसा के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। वे इसे स्त्री पर हो रहे शोषण और अत्याचारों को उत्पन्न करने की जड़ के रूप में देखते हैं। यदि परिवार का ही उदाहरण लें, तो परिवार को एक उदारवादी संस्था माना जाता है और यह सभी सदस्यों के हित को लेकर काम करती है, परंतु उनके अनुसार यह एक अलोकतांत्रिक संस्था होती है। परिवार में पारिवारिक और वैयक्तिक निर्णयों को लेने के लिए स्त्रियों को या तो उनके मत को अनुपयुक्त माना जाता है या तो उन्हें इन अधिकारों से वंचित रखा जाता है। वे परिवार का सदस्य होते हुए भी पुरुषों के अधीन रहने वाली वस्तु से अधिक कुछ भी नहीं मानी जाती हैं। शताब्दियों से चली आ रही इस व्यवस्था को धार्मिक परंपराओं, रिवाजों और मान्यताओं की वैधता प्राप्त है। इस संबंध में नारीवादियों

द्वारा सदैव मनुस्मृति का उदाहरण पेश किया जाता है जिसमें स्त्रियों के लिए नियोजित किए गए कर्मकांड और क्रियाकलाप पुरुषों से अलग और अपेक्षाकृत दुष्कर हैं। विधवा स्त्री को पुनर्विवाह करने की अनुमति नहीं है, उन्हें अनेक प्रकार के निषेधों का पालन आजीवन करना पड़ता है , परंतु पुरुषों के लिए इस परिस्थिति में अलग ही प्रावधान हैं। वे कुछ ही समय के लिए निषेधों का पालन करते हैं और उसकेपश्चात उससे मुक्त हो जाते हैं। सामाजिकसांस्कृतिक प्रणालियों में पुरुषों के प्रभुत्व औरस्त्रियों की अधीनता को स्वीकार करने की संरचना ही पितृसत्ता है।

पितृसत्ता की संरचना पुरुषों के स्त्रियों पर आधिपत्य को प्रदर्शित करती है। पुरुषों का स्वभाव स्त्रियों की तुलना में अधिक प्रतिस्पर्धा उन्मुखी होता है। वे सत्ता प्राप्त करने और शक्ति को बनाए रखने, प्रभुत्व और वर्चस्वशाली बनना, जाति और लिंग को सर्वोच्च मानने आदि के गुणों की उपलब्धता पर्याप्त मात्रा में होती है। इसके विपरीत स्त्रियाँ शर्मीली, सभ्य, संस्कारी आदि प्रकृति की होती हैं। इसके कारण ही पुरुष अपनी सर्वोच्चता, प्रभुत्व और शक्तियों को ऊर्ध्वाधर संवर्धित करने की ओर अग्रसर रहते हैं। पितृसत्ता में वरिष्ठ पुरुष अनिवार्य रूप से परिवार की सभी आर्थिक व संपत्ति संसाधनों पर नियंत्रण रखता है और साथ ही साथ वह परिवार के अन्य सभी स्त्रियों व पुरुषों पर भी हावी रहता है। समाज के अनेक स्थानों में पितृसत्ता के अस्तित्व को देखा जा सकता है, यथा–परिवार में, चिकित्सा, मीडिया, धार्मिक क्रियाओं व संरचनाओं में, महिलाओं के अधिकारों के हनन में, सरकार पर विभिन्न रूपों में नियंत्रण आदि। यह एक रूढ़िबद्ध धारणा है जो मनुष्य की मानसिकता और अंतर्दृष्टि को संकुचित करती हैं और इन्हें जटिलताओं व विरोधाभासों को उपेक्षित करने के लिए प्रोत्साहित करती है।

वर्चस्वशाली रूढ़िबद्ध धारणाओं के अनुसार पुरुष और स्त्री के अपने अलगअलग काम और प्रकृति होती है। पुरुष अथवा उसके पुरुषत्व का संबंध तार्किक, आक्रामक, उग्र, महत्वाकांक्षी आदि से है और वहीं स्त्री अथवा उसके स्त्रीत्व (नारीत्व) का संबंध शर्मीली, सीधा स्वभाव, सहनशील, निर्भर, कमज़ोर, कोमल आदि से है। ये प्रारूप लैंगिक असमानता को दो बड़े भागों में वर्गीकृत कर सकने में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वहन करते हैं। नारीवादी विद्वानों ने प्रत्यक्ष तौर परइन प्रारूपों की आलोचना की है।

नारीवादी **मारग्रेट मीड** का मानना है कि पुरुषत्व और नारीत्व को निर्धारित करने वाले मानक अथवा प्रारूप संस्कृतियों और परंपराओं के अनुरूप होते हैं। सभी समाजों में पर्याप्त विभेद पाया जाता है और इसी क्रम में उनकी संस्कृति, परंपरा, संस्कार, व्यवहार, मान्यताएँ आदि भिन्न-भिन्न होती हैं। इन्हीं के अनुरूप समाज विशेष में पुरुषत्व और नारीत्व से संबंधित व्यवहारों का सृजन होता है। इसी आधार पर पुरुषों को शारीरिक श्रम के कार्यों में कुशलता दी जाती है और स्त्रियों को संस्कारिक कार्यों में।

सिमेन द बुवा का एक कथन बहुत प्रसिद्ध है, *"जन्म से ही कोई स्त्री, स्त्री नहीं होती है, उसे स्त्री बनाया जाता है।"* यदि इस कथन का विश्लेषण किया जाए, तो यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज द्वारा स्त्री को उस रूप में ढाला जाता है जो उसके स्त्रीत्व की प्रवृत्ति द्वारा परिभाषित हो। भारतीय समाज में जैविक नियतिवाद के कारण स्त्रियों को बचपन से ही स्त्रीत्व वाले गुणों में संलग्न कर दिया जाता है यथा– भोजन

पकाना, पुरुष के अधीनस्थ रहना, कमज़ोर और सहनशील बनना, चहारदीवारी में कैद रहना, कम बोलना, शर्मीले स्वभाव का होना आदि।

पितृसत्ता की भांति ही एक और प्रकार की सत्ता होती है, जो स्त्रियों की केंद्रीय भूमिका का प्रतिनिधित्व करती है उसे मातृसत्ता के नाम से जाना जाता है। इसके यह माना जाता है कि समाज की सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था पर आधिपत्य माता अथवा वरिष्ठ महिला का होता है। इसमें स्त्री और पुरुष उत्पादन और सत्ता में समान रूप से साझा कार्य करते हैं। हालांकि आज इस प्रकार प्रणाली से संबंधित समाजों का अस्तित्व न के बराबर है। कुछ नारीवादी विचारकों का मानना है कि पितृसत्ता का विकास इतिहास के एक पड़ाव पर कुछ निश्चित कारणों से हुआ और इसमें परिवर्तन भी किया जा सकता है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

लर्नर ने पितृसत्ता को ऐतिहासिक संरचना माना है और उनका मानना है कि पितृसत्ता एक प्रक्रिया है न कि कोई घटना। अपनी पुस्तक *'क्रिएशन ऑफ पैट्रियार्की'* के माध्यम से भी उन्होंने यही सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पितृसत्ता का सीधा संबंध एक प्रक्रिया, रचना, निर्माण से है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि पितृसत्ता पुरुषों के द्वारा पूर्वनियोजित रणनीति का परिणाम नहीं है। लर्नर ने लिखित और पुरातात्विक इतिहासों के आधार पर 3500 ई. पू. और 500 ई. पू. के दौरान पितृसत्ता के विकासक्रम को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है और इसे समझाने के लिए उन्होंने मेसोपोटामियाई, अकेडियार्ड, बेबीलोनियाई, सुमेरियाई और हिब्रू सभ्यता का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक के माध्यम से उन्होंने पितृसत्ता और पितृसत्तात्मक व्यवस्था के अभ्युदय और इसकेराज्य व वर्ग के साथ संबंधों की व्यापक विवेचना प्रस्तुत की है।

70 के दशक में अमेरिका में वियतनाम युद्ध के विरोध में और सिविल अधिकारों को लेकर क्रियाशील हुए आंदोलनों में बड़ी मात्रा में महिलाओं ने हिस्सेदारी की थी। आंदोलन में सक्रिय उन महिलाओं ने यह पाया कि आंदोलन के दौरान प्रेम, सहयोग, शांति, न्याय और समता की बड़ी-बड़ी बातें करने वाले साथी आंदोलनकारी पुरुषों का उनके प्रति जो व्यवहार था वह आम पुरुषों से भिन्न नहीं था। आंदोलन में कही जाने वाली बातों को वे अपने दैनंदिन के जीवन में प्रायः नहीं स्वीकार करते थे।आंदोलन में सक्रिय महिलाओं ने स्वयं के लिए पूर्वनिर्धारित पारंपरिक भूमिकाओं का विरोध को महत्व दिया और वे किंचित दायरों में सिमट कर नहीं रहना चाहती थीं। वे महिलाएं यौन नैतिकता से संबंधित रूढ़ियों को जड़ से नष्ट करने पर ज़ोर दे रही थीं, लेकिन उनकी चैतन्यता पुरुष वर्ग को हजम नहीं हो पा रही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि उन महिलाओं को न केवल आंदोलन से परे कर दिया गया, अपितु वियतनामयुद्ध विरोधी मुहिम का झण्डा थामे संगठन के नेतृत्व ने उनसे कहा कि आंदोलन में पुरुषों के पीछे स्त्रियों का कारवां रहना चाहिए। यदि स्पष्ट रूप में कहा जाए, तो वे भी स्त्रियों को भोग-विलास की वस्तु और उनके साथ अधीनस्थ के रूप में ही व्यवहार कर रहे थे, जबकि उन महिलाओं की यह सोच थी कि जो लोग शोषण और अन्याय के विरूद्ध मुहिम चला रहे हैं, उन पुरुषों की मानसिकता अवश्य परिवर्तित हुई होगी और वे

हमारे साथ समतापूर्ण आचरण करेंगे। वहाँ के कठोर अनुभवों से वे स्त्रियाँ इस निष्कर्ष पर पहुँचीं कि पुरुष शोषक के रूप में और स्त्रियाँ शोषित के रूप में हैं, यह माहौल चाहे घर का हो अथवा बाहर का परिस्थितियाँ इसी से संबंधित रहेंगी।

3.4 भारत में पितृसत्ता का स्वरूप

भारतीय समाज में पितृसत्ता की जड़ें काफ़ी मजबूत हैं और इसके कारण स्त्रियों की स्थिति अत्यंत जटिल और उलझी हुई है। भारत में कई प्रकार के खेमे बंटे हुए हैं यथा– जाति, वर्ग, धर्म, भाषा, क्षेत्र, संस्कृति आदि। इन सभी भागों में स्त्रियों की स्थिति अलग-अलग है और उसी के अनुरूप पितृसत्ता का स्वरूप भी है। भारतीय समाज जातिव्यवस्था के कारण पितृसत्ता के निर्माण की प्रक्रिया और उसके स्वरूप के स्तर पर अन्य समाजों से भिन्न स्वरूप धारण किए हुए है। जातिगत संरचना में ब्राह्मण सर्वोच्च प्रस्थिति पर काबिज जाति है, परंतु इसमें पितृसत्ता और परंपरा का बोलबाला अधिकाधिक मात्रा में है, जिसके कारण स्त्रियों की स्थिति और भी दयनीय हो जाती है। इसके विपरीत जातिगत संस्तरण व्यवस्था की सबसे निम्न प्रस्थिति पर शूद्र काबिज हैं, परंतु उनमें अपेक्षाकृत पितृसत्ता की स्थिति कमज़ोर होती है और स्त्रियों की दशा कुछ मामलों में बेहतर रहती है। अर्थात् जातीय संस्तरण की उच्चतम जाति से निम्नतम जाति की ओर पितृसत्ता की संरचना में आंशिक तौर पर लचिलापन आ जाता है। जाति संरचना के साथ संबद्ध पितृसत्ता को ब्राह्मणवादी पितृसत्ताकी संज्ञा दी जाती है, क्योंकि यह यह ठीक ब्राह्मणवादी विचारधारा के सदृश्य काम करती है। इस संबंध**उमा चक्रवर्ती** के मत का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है–

- यह स्त्री की पुरुष के अधीनता के विभिन्न स्वरूपों में से किसी एक रूप मात्र नहीं, अपितु संपूर्ण हिंदू समाज और जाति आधारित व्यवस्था से संबंधित विशिष्ट प्रणालीहै। अधिकांश भारत में अपनी पैठ बना चुकी इस पितृसत्तात्मक संरचना की अलग पहचान प्रदर्शित करने के प्रयोजन को सिद्ध करने हेतु ब्राह्मणवादी पितृसत्ता का इस्तेमाल उचित है।
- इसके नियमों में जाति व्यवस्था में पवित्र और अपवित्र की संकल्पना का भी उल्लेखनीय स्थान है। जाति की स्थिति और पवित्र और अपवित्र के अनुसार ही उसकी स्त्रियों के लिए नियम सुनिश्चित किए गए हैं। इन नियमों के नियोजन और क्रियान्वयन का अधिकार जातिगत संस्तरण की ऊँची जातियों के पास रहा है।
- यह पतिव्रता और साध्वी स्त्रियों के गुणगान को महत्व देता है और उनकेमहिमामंडन द्वारा अन्य स्त्रियों को उनका उदाहरण देता है। साथ ही साथ इसी आधार पर उनकी अधीनता के लिए सहमति भी प्राप्त करता है। ये सभी व्यवस्थाएँ सुचारू रूप से कार्यान्वित हो सकें इसके लिए जरूरत पड़ने पर दंड का प्रावधान भी किया गया है।
- वस्तुतः यह नियमों और संस्थानों का एक ऐसा समुच्च है, जिसमें जाति और जेंडर दोनों एक-दूसरे से अंतर्संबंधित हैं और एक्दूसरे के स्वरूप का निर्धारण करते हैं।ये दोनों आपस में ही एक-

दूसरे की वैधानिकता का भी खयाल रखते हैं। इसका इस्तेमाल स्त्रियों के मध्य श्रेणीक्रम बनाए रखने के साधन के रूप में होता है।

- जाति संरचना का मूल मन्तव्य श्रम का दोहन है और इसी कारण जेंडर आधारित नियमों की व्यवस्था की गई, ताकि ऊँची जातियों को इसका लाभ सरलता से प्राप्त हो सके।
- जैसा कि ऊपर भी बताया जा चुका है कि निम्न जातियों में महिलाओं की स्थिति अपेक्षाकृत कुछ बेहतर होती है। वे अपनी आनुष्ठानिक प्रस्थिति उठाने के लिए इन नियमों का अनुसरण करना आरंभ कर देती हैं। इस क्रम में वे जातियाँ इस बारे में संज्ञान विकसित नहीं कर पातीं हैं कि उच्च और निम्न जातियों की स्त्रियों के लिए विवाह और यौन से संबंधित भिन्न-भिन्न प्रकार के नियमों की व्यवस्था की गई है। यह इस बात से पुष्ट किया जा सकता है कि जहाँ एक तरफ ऊँची जातियों में विधवा पुनर्विवाह पर निषेध लगाया गया है और वहीं दूसरी तरफ निम्न जातियों की स्त्रियों के लिए विधवा पुनर्विवाह पर कोई निषेध नहीं लगाया गया है, अपितु उनके साथ जबरन सहवास तक की संभावनाएं खुली रखी गई हैं।

पितृसत्ता के अंतर्गत सामाजिक संरचना में प्रायः उच्च पद और स्थान पुरुषों द्वारा संचालित और निर्देशित होते हैं। नौकरशाही, विभिन्न सरकारी पद, संस्था और व्यावसायिक निकायों आदि उदाहरणों के मध्य से इस बात को पुष्ट किया जा सकता है।

भारत के सभी समाज जाति के आधार पर ही गठित नहीं हैं, वरन यहाँ जनजाति समाज-व्यवस्थाएँ भी विद्यमान हैं। इन समाजों में पितृसत्ता का स्वरूप अलग प्रकार का है। जाति व्यवस्था के लगातार प्रसार और धीरे-धीरे कतिपय जनजातीय समाजों द्वारा इसे अपना लिया जाना स्वयं में एक व्यापक प्रक्रिया है और इन्हीं के आलोक में नारीवादी विचारकों द्वारा जाति समाज की पितृसत्ता को वर्चस्वशाली स्वरूप के रूप में स्वीकार किया है, जिससे जनजातीय पितृसत्ताएँ भी प्रभावित हुई होंगी।

3.5 सारांश

पितृसत्ता एक सामाजिक व्यवस्था है जिसमे पुरुषों की प्राथमिक सत्ता होती हैं। राजनैतिक नेतृत्व, नैतिक अधिकार, सामाजिक सम्मान, सम्पत्ति का नियंत्रण की भूमिकाओं में प्रबल होते हैंपरिवार के क्षेत्र में पिता या अन्य पुरुष महिलाओं और बच्चों के ऊपर अधिकार जमाते है। इस व्यवस्था में स्त्री तथा पुरुष को समाज द्वारा दिए गए कार्यों के अनुसार चलना पढता है।धर्म, समाज व रूढ़िवादी परंपराएं पितृसत्ता को अधिक ताक़तवर बनाती हैं। सदियों से महिलाएं पितृसत्ता के कारण उत्पीड़ित हो रही हैं। पितृसत्ता स्त्रियों और पुरुषों, स्त्रियों तथा स्त्रियों और पुरुषों तथा पुरुषों के मध्य सत्ताके सामाजिक संबंधों से संबंधित है। यह जाति, वर्ग, लिंग आदि के आधार पर विशेषाधिकार और सत्ता की संरचना और शक्ति को बनाए रखने की एक व्यवस्था है, जो समाज में असमानता को बनाए रखने के लिए अपमान, हिंसा, अत्याचार आदि के आधार पर पुरुषों के प्रभुत्व को स्थापित करनेपर जोर देती है। पितृसत्ता एक संरचनात्मक बल

है, जो सामाजिक संबंधों को प्रभावित करता है। पितृसत्ता के लिए कार्यसूची का निर्धारण सत्ता द्वारा किया जाता है। नारीवाद, जो स्त्रियों द्वारा स्वयं के प्रति निर्णयबद्ध होने और उनके अधिकारों को लेकर गंभीर है, जेंडर समरूपता को महत्व देता है और उसे कायम रखने की कवायद करता है। साथ ही यह सत्ता संबंधों को अर्थपूर्ण संबंधों के साथ समन्वित करने का प्रयास करता है।

फ्रायड का मानना है कि स्त्रियों की शारीरिक रचना को 'स्त्री का भाग्य' माना गया है और यह उनके व्यवहार, भूमिका, क्षमता आदि को दर्शाता है। जिम्मरमैन ने भी स्त्रियों और पुरुषों में अंतर करने के लिए जैविक मापदण्डों को आवश्यक माना है और वे स्त्री की अधीनता और पुरुषों के वर्चस्व को जैविक निर्धारण मानते हैं। स्त्री शरीर की रचना ही कुछ इस प्रकार से हुई है कि वह बच्चे पैदा करने और उनके लालन-पालन के लिए उपयुक्त है। प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में मातृत्व के गुणों का बखान किया जाता है। पितृसत्तात्मक प्रणाली को बनाए रखने के लिए पुत्र को जन्म देने वाली स्त्री का काफ़ी सम्मान किया जाता है और स्त्रियों की प्रजनन क्षमता को बहुत महत्व दिया जाता है। स्त्रियों की स्थिति को गहराई से समझने के लिए जैविक पक्ष से इतर अन्य पक्षों को भी समझने की आवश्यकता है। आज महिलाएं जाति, वर्ग, धर्म, संप्रदाय, लिंग, भाषा आदि से परे हटकर विविध प्रकार के आंदोलनों में सक्रिय भूमिका निभा रही हैं। महिलाएं चाहे अफ्रीका की हों, भारत की हों, मुस्लिम समुदाय की हों, किसान समुदाय की हों अथवा दलित जाति की हों वे आज अपनी अस्मिता और पहचान को तलाश कर रही हैं। समकालीन संदर्भ में महिलाओं की स्थिति में बदलाव अवश्य हुए हैं परंतु अभी ये बदलाव पूरी तरह से नियोजित नहीं हो पाए हैं।

3.6 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: पितृसत्ता क्या है? इसकी संकल्पना पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 2: पितृसत्ता से संबंधित नारीवादी दृष्टिकोण के बारे में वर्णन प्रस्तुत कीजिए।

प्रश्न 3: भारत में पितृसत्ता के स्वरूप को बताइए।

3.7 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

लर्नर, जी. (1987). *क्रिएशन ऑफ पैट्रियार्की.* ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड यूनिवरसिटि ऑफ प्रेस

वेलबे, एस. (1997). *थियोराइजिंग पैट्रियार्की.* कैम्ब्रिज: पोलिटी प्रेस

चक्रवर्ती, उ. (2010). *पितृसत्ता: जेंडर और शिक्षा (भाग-1).* नई दिल्ली: निरंतर पब्लिकेशन

परमार, श. (2015). *नारीवादी सिद्धान्त और व्यवहार.* नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड

झा, व.क. (2011). *जाति समाज में पितृसत्ता.* दिल्ली:ग्रंथ शिल्पी इंडिया प्राइवेट लिमिटेड

यादव, र. (2003). *पितृसत्ता के नए रूप.* नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन

इकाई 4

सांप्रदायिकता एवं अस्मिता विमर्श

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 सांप्रदायिकता की संकल्पना और अर्थ
4.3 सांप्रदायिकता के कारण
4.4 सांप्रदायिकता के दुष्परिणाम
4.5 सांप्रदायिकता निवारण हेतु किए गए प्रयास
4.6 सारांश
4.7 बोध प्रश्न
4.8 संदर्भ एवं उपयोगीग्रंथ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप –

- सांप्रदायिकता के अर्थ एवं संकल्पना को स्पष्ट कर सकेंगे।
- सांप्रदायिकता के कारणों को विश्लेषित कर सकेंगे।
- सांप्रदायिकता के दुष्परिणामों को रेखांकित कर सकेंगे।
- सांप्रदायिकता उन्मूलन हेतु किए गए प्रयासों के बारे में अवगत हो सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

भारतीय समाज विविधता वाला समाज है। आदि काल से ही भारत में अनेक धर्म, संप्रदाय, परंपराएँ और संस्कृतियाँ आदि विद्यमान रही हैं। यहाँ समय-समय पर कई धर्मों का उदय हुआ है, विकास हुआ है और इतना ही नहीं एक ही धर्म में कई मत, संप्रदाय आदि समूहों को फलने-फूलने के लिए परिस्थितियाँ भी अनुकूल रही हैं। हालांकि एक समूह ने दूसरे समूह के धर्ममत आदि के विकास में अपना योगदान दिया है, परंतु शनैः शनैः इन समूहों के मध्य स्वयं की अस्मिता को लेकर द्वेष, घृणा, संघर्ष आदि के समस्याएँ पनपने लगी। इसी आधार पर कालांतर में प्रत्येक समूह द्वारा स्वयं को पृथक इकाई और श्रेष्ठतम इकाई के रूप में स्थापित करने की वकालत की जाने लगी।

4.2 सांप्रदायिकता की संकल्पना और अर्थ

हालांकि औपनिवेशिक भारत में विकास हुए परंतु ब्रिटिशों ने भारत को सांप्रदायिकता के रूप में नासूर की एक सौगात भी दी। ब्रिटीशों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति ने सांप्रदायिक तनाव को पनपाने और उसके प्रसार में कोई कसर नहीं छोड़ी।

सामान्यतः सांप्रदायिकता अथवा संप्रदायवाद से लोगों का यह आशय होता है कि यह धर्म, भाषा, संप्रदाय, क्षेत्र, प्रजाति, भाषा में से किसी भी एक आधार पर किया गया विरोध है जो एक समूह को दूसरे से पृथक रहने की भावना से ग्रसित होता है, परंतु वास्तविकता यह है कि सांप्रदायिकता में संस्कृति, भाषा, क्षेत्र आदि के पृथक्करण का कोई महत्व नहीं होता है। अमेरिका, अफ्रीका, यूरोप के कतिपय भागों में प्रजातीय आधार पर सांप्रदायिक संघर्ष हुए परंतु भारत में यह धारणा पूर्णरूप से धार्मिक अंधभक्ति से प्रेरित है। नई आर्थिक नीति और वैश्वीकरण के दौर ने भारत में वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य की प्रमुख गतिविधियों में सांप्रदायिकता को शामिल कर दिया। बाबरी मस्जिद विध्वंस कांड, गोधरा कांड के फलस्वरूप गुजरात में उभरे दंगे, मुंबई कांड, मुजफ्फरनगर कांड, पंजाब में अकाली दल और डेरा सच्चा सौदा के मध्य सांप्रदायिक तनाव आदि ने इसे अंतरराष्ट्रीय फलक के मुद्दे के रूप में स्थापित कर दिया।

1. **पंडित जवाहरलाल नेहरू-** *"सांप्रदायिकता भारत का सबसे बड़ा शत्रु है यह भारतीयता और राष्ट्र के विरुद्ध यह एक भारी चुनौती है और इसे नष्ट करने में हमें पूरी ताकत लगा देनी चाहिए।'*
2. **श्रीकृष्ण भट्ट-** *"सांप्रदायिकता,अपने धार्मिक संप्रदाय से भिन्न अन्य संप्रदाय तथा संप्रदायों के प्रति उदासीनता, उपेक्षा, हेय दृष्टि, घृणा और आक्रमण की वह भावना है, जिसका आधार वास्तविक या काल्पनिक भय या संदेश है जिसमें अन्य संप्रदाय हमारे अपने संप्रदाय और संस्कृति का नष्ट कर देने या हमें जानमाल की क्षति पहुँचाने के लिए प्रतिबद्ध हैं।"*
3. **स्मिथ-** *"एक सांप्रदायिक समूह अथवा व्यक्ति वह है जो अपने धार्मिक या भाषाई समूह को एक ऐसी राजनैतिक व सामाजिक इकाई के रूप में देखता है जिसके हित अन्य समूहों से अलग होते हैं और जो अक्सर एक-दूसरे के विरोधी भी हो सकते हैं।"*

इन आधारों पर सांप्रदायिकता की कुछ विशेषताओं को प्रस्तुत किया जासकता है–

1) सांप्रदायिकता का आधार धार्मिक विश्वास होते हैं इसीलिए धार्मिक कट्टरता में उतार-चढ़ाव होने से सांप्रदायिकता की भावनाओं में भी उसी दिशा में उतारचढ़ाव होते हैं।
2) सांप्रदायिकता एक उग्र भावना है जो दूसरे धार्मिक संप्रदायों के प्रति विरोध और संघर्ष की भावना को उद्वेलित करती है।
3) यह किसी वास्तविक अथवा काल्पनिक भय से घिरा रहता है, जिसमें किसी अन्य धार्मिक समूह द्वारा स्वयं के धार्मिक समूह के नष्ट किए जाने का अंदेशा होता है।
4) सांप्रदायिकता चरमवादी होती है और इसमें समन्वय या समझौते के भाव नहीं पाए जाते।

5) इसमें मानसिक संतुष्टि तभी प्राप्त होती है जब संबंधित समूह किसी अन्य धार्मिक समूह को विरोध, घृणा अथवा संघर्ष के सहारे नीचा दिखाने में अथवा दबाने में सफल हो जाता है।

इस प्रकार से यह स्पष्ट होता है भारत में धर्म के नाम पर हिंदूमुस्लिम, मुस्लिम समुदाय में शिया-सुन्नी, सिक्ख समुदाय में अकाली-निरंकारी के पारस्परिक संघर्ष सांप्रदायिकता के उदाहरण हैं। समकालीन संदर्भ में सांप्रदायिकता की धारणा में धार्मिक अंधभक्ति में राजनैतिक हित भी जुडते जा रहे हैं।

4.3 सांप्रदायिकता के कारण

सांप्रदायिकता की वर्तमान समस्या बहुत जटिल हो गई है। सांप्रदायिकता की भावना के उद्वेलन में निम्नलिखित कारण प्रमुख हैं–

1) **ऐतिहासिक पृष्ठभूमि-** भारत में दो सबसे बड़े धार्मिक समूहों के मध्य संघर्ष के उदय के पीछे सांप्रदायिकता की भावना ही ज़िम्मेदार है। अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति ने हिंदू-मुस्लिम के मध्य विद्वेष की भावना को जन्म दिया और इसका इतना भयावह परिणाम निकाला कि भारत और पाकिस्तान के रूप में दो भागों में हिंदुस्तान विभाजित हो गया और 1946-48 के दंगों में 2 लाख से ज़्यादा लोगों की मौत हो गई।

2) **मनोवैज्ञानिक कारण-** सांप्रदायिकता का प्रमुख कारणयह भी है कि मानसिक तौर पर धार्मिक समूह दूसरे समूह के प्रति विरोधी धारणा रखते हैं।1947 के विभाजन के पश्चात भारत में निवासरत मुस्लिमों का पाकिस्तान के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रवैया रखना भी हिंदू जनमानस के मन में भ्रामक रूप से उनके प्रति अविश्वास को प्रस्तावित करता है। मुस्लिम समूह अकारण ही हिंदुओं की प्रगति को अपने पिछड़ेपन और शोषण के मूल्य के रूप में प्राप्त की गई शक्ति के रूप में मानते हैं। अतीत में मुस्लिमों द्वारा हिंदुओं पर किए गए अत्याचारों का बदला आज हिंदुओं द्वारा उनके शोषण के रूप में लिया जा रहा है। पंजाब में अकालियों और निरंकारियों के मध्य होने वाले संघर्ष का द्योतक भी मनोवैज्ञानिक कारण ही हैं। शाहबानो प्रकरण ने हिंदू और मुस्लिम समुदाय के मध्य अविश्वास के मत को और भी तूल देने का काम किया है।

3) **सांप्रदायिक संगठन-** देश में शुरू से ही संगठनों का निर्माण समुदाय विशेष के संदर्भ में किया जाने लगा और इसका परिणाम यह हुआ कि वे संगठन अपने ही धार्मिक समूह तक सिमट कर रह गए और वे अपने समुदाय का प्रयोग दूसरे समुदायों से पृथक करने और उन्हें दबाने के लिए करते हैं। शुरू से ही दो बड़े संगठन के रूप में मुस्लिम लीग और हिंदू महासभा स्थापित हैं, जो एक-दूसरे के प्रति विद्वेष की भावना से संबंधित समूह को दूसरे के प्रति भड़काने का काम करते थे।1980 में संभाल और अलीगढ़ में होने वाले सांप्रदायिक दंगे और1980 में मुरादाबाद और अन्य नगरों में भड़के दंगे सांप्रदायिक संगठनों की दूषित मनोवृत्तियों के फलस्वरूप हुए हैं। मूल रूप से एक दंगे के प्रतिशोध के रूप में दूसरे स्थानों पर दंगे भड़कते हैं।

4) **धार्मिक कट्टरता-** सभी धर्मों की शिक्षा, नैतिकता और मानक लगभग एक समान ही हैं , परंतु फिर भी धार्मिक नेताओं और प्रचारकों द्वारा उसके दूसरे रूप को दिखाया जाता हैऔर अपने धर्म को अन्य से बेहतर बताया जाता है। कुछ अपवादों को छोडकर सभी मौलवी, महंत, पादरी, मठाधीश आदि संबंधित धार्मिक समूह में धार्मिक कट्टरता के बीज को प्रत्यारोपित करने का काम करते हैं। एक ओर तो वे लोगों को अपने धर्म के प्रति प्रेम, सहयोग और सौहार्द्र की भावना से ओतप्रोत करते हैं और वहीं दूसरी ओर अन्य धार्मिक समूहों के प्रति हेय दृष्टि के रूप में घृणा और संघर्ष के जहर का रोपण करते हैं। इस प्रकार के कई उदाहरण हमारे पास हैं, जिसमें अनुयायियों द्वारा धर्म के विकास हेतु किए गए अनैतिक कर्म को भी पुण्य की श्रेणीमें रखने की बात पर जोर दिया गया है।
5) **सांस्कृतिक भिन्नता-** सांप्रदायिक दंगों और संघर्ष के लिए सांस्कृतिक भिन्नता भी ज़िम्मेदार है, क्योंकि भारत में अनेक धर्म के अनुयायी निवास करते हैं और उनकी संस्कृति, परंपराएँ, रीति-रिवाज उनके धर्म के ही अनुरूप होती हैं और प्रायः उनमें काफी अंतर पाया जाता है। उनके त्योहार, उत्सव, वेश-भूषा, मान्यताएँ, खान-पान, धार्मिक विधान आदि भिन्न-भिन्न होते हैं।
6) **राजनैतिक हित-** यद्यपि लोकतंत्र समतापूर्ण शासन की एक प्रणाली है तथापि वर्तमान के लोकतांत्रिक नेता अपने वैयक्तिक हितों को साधनेके लिए सांप्रदायिक समूहों का प्रयोग करते हैं। स्वार्थी राजनीतिक दलों, नेताओं द्वारा अपने स्वार्थ सिद्ध करने के लिए इसको और भी बढ़ावा देने का काम किया है, यथा- केरल, कर्नाटक, में भड़के 2004 के दंगे, गोधरा कांड, मुंबई कांड, मुजफ्फरनगर कांड आदि। इस बात को श्रीकृष्ण आयोग द्वारा भी पुष्ट किया गया है।
7) **अराजक तत्वों के व्यक्तिगत हित-** प्रत्येक समाजों में कुछ अराजक तत्व होते हैं जो समाज विरोधी प्रक्रियाओं में संलिप्त पाए जाते हैं और इनका काम समूहों के मध्य संघर्ष को पनपा कर अपने वैयक्तिक स्वार्थ की पूर्ति करना होता है। ये अराजक तत्व किंचित संदर्भों को तोड़-मरोड़ कर पेश करते हैं और इनके सहारे सांप्रदायिक समूहों में द्वेष की भावना को अंकुरित करके अपने मंतव्य को पूरा करने का काम करते हैं।
8) **कुछ सरकारी नीतियों का प्रभाव-** कमोबेश रूप से किंचित सरकारी नीतियाँ भी सांप्रदायीकता को बढ़ावा देने में योगदान करती हैं। कानून लागू करने वाली एजेंसियों के सांप्रदायिकरण ने स्थिति को और भी तूल दिया है, उदाहरण के लिए देखे- वी.एन. राय द्वारा प्रस्तुत शोध 'परसेप्शन' ऑफ पोलिस न्यूट्रालिटी इन कम्यूनल राइट्स।

4.4 सांप्रदायिकता के दुष्परिणाम

भारत में सांप्रदायिकता ने राष्ट्रीय एकीकरण, सामाजिक प्रगति और सांस्कृतिक एकीकरण को अवनति के अंधकार में धकेलने का काम किया है। इसके कुछ प्रमुख दुष्परिणाम इस प्रकार हैं

1) **राष्ट्रीयता पर प्रभाव-** स्वस्थ और संगठित राष्ट्र निर्माण में सांप्रदायिकता संकट पैदा करता है। कुछ प्रमुख बिंदुओं के माध्यम से इस बात को पुष्ट किया जा सकता है-

   - राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक है कि सभी समूह एकजुट होकर आपसी सहयोग की भावना का सृजन करें, परंतु सांप्रदायिकता समूहों को आत्मकेंद्रित बनाता है और अन्य समूहों से दूर रखता है।
   - राष्ट्रीय एकता में भावनात्मक एकीकरण और चरित्र की दृढ़ता का विशिष्ट महत्व होता है, परंतु सांप्रदायिकता से धर्म व्यक्ति के नैतिक चेतना की अवनति का माध्यम मात्र बन कर रह जाता है।
   - सांप्रदायिकता से उत्पन्न संघर्ष और द्वेष के कारण सभी धार्मिक समूह एकदूसरे को हेय दृष्टि से देखने लगते हैं और दूसरे के बारे में अविश्वास के मत को प्रस्तावित करने लगते हैं यह परिस्थिति राष्ट्रीयता को दूषित करने में सहायक होती है।
   - सांप्रदायिकता के फलस्वरूप प्रत्येक समूह दूसरे के प्रति द्वेष की भावना रखता है और उनसे रक्षा हेतु अपनी रचनात्मकता को नष्ट कर देता है, इन परिस्थितियों में भी राष्ट्रीय एकता का हनन होता है।

2) **राजनैतिक अस्थिरता और अविश्वास-** सांप्रदायिकता के कारण सरकार और राजनीतिक दलों की संरचना में भी विघटन होता है। भारत एक लोकतांत्रिक देश है और इसमें जनता का सरकार के प्रति विश्वास और राजनीतिक दलों की स्थिरता का होना आवश्यक है और सांप्रदायिक संघर्ष के कारण यह समायोजन बेकार हो जाता है। राजनैतिक दलों द्वारा सरकार की आलोचना की जाने लगती है और उनके दुष्प्रचार से सांप्रदायिक तनावों को और बल मिलने लगता है जिससे जनता का सरकार में विश्वास घटाने लगता है। सांप्रदायिकता के कारण ही विभिन्न वर्गों की मांग राष्ट्रीय अथवा सामुदायिक हित में न होकर सांप्रदायिक आधार पर निर्धारित होने लगती हैं और सांप्रदायिक आधार पर राजनीतिक दलों को महत्व दिया जाने लगता है।

3) **सार्वजनिक जन-धन की हानि-** सांप्रदायिकता के कारण देश की बड़ी मात्रा में मानवीय और आर्थिक हानि होती है। देश को उन्नत बनाए जाने के लिए भांतिभांति के आर्थिक और सामाजिक नियोजन किए जाते हैं, परंतु सांप्रदायिकता के कारण धन का विशाल भंडार कुछ ही पल में नष्ट हो जाता है। समूह द्वारा धार्मिक अंधभक्ति के आवेश में आकार कितने ही व्यक्तियों की हत्या कर दी जाती है और महिलाओं के साथ दुराचार होते हैं। सांप्रदायिकता से मानवीय चेतना शून्य की ओर अग्रसारित हो जाती है।

4) **पारस्परिक अविश्वास-** सांप्रदायिकता से विभिन्न समूहों में आपसी मतभेद तनाव और असंतोष व्याप्त हो जाते हैं, जो एक-दूसरे के प्रति अविश्वास की भावना को जागृत करते हैं। यह

अविश्वास शनैः शनैः और भी गहरा ही होता चला जाता है और कई बार तो इस अविश्वास की भावना से धार्मिक समूहों में सांप्रदायिक संघर्ष उभर जाते हैं और यह राष्ट्रीय जीवन के लिए गंभीर चुनौती के रूप में सामने आते हैं। इससे उत्पन्न संघर्ष द्वारा राष्ट्रीय एकता और अखंडता के समक्ष खतरा पैदा हो जाता है।

5) **औद्योगिक विकास में रुकावट-** सांप्रदायिकता के कारण ही देश की औद्योगिक विकास गति धीमी है। सांप्रदायिक भावनाओं से ग्रस्त श्रमिक कई गुटों में बंटे हुए रहते हैं और कभी-कभी विवादों के गहरा जाने पर उत्पादन कार्य ठप्प भी हो जाता है।

6) **अराजक तत्वों में बढ़ोत्तरी-** सांप्रदायिक हिंसा से जब तनाव और द्वेष की भावना में वृद्धि हो जाती है तो लूटपाट, आगजनी और हत्या की वारदातों में भी बढ़ोत्तरी होने लगती है। इन परिस्थितियों में संकीर्णता, कट्टरता और प्रतिशोध की मनोवृत्ति इतनी प्रबल रूप में होती है कि इनके प्रभाव से व्यक्ति नाना प्रकार की आपराधिक गतिविधियों में संलिप्त हो जाता है। यह स्थिति भविष्य में सामाजिक प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध करने का काम करती है।

7) सांप्रदायिक संघर्ष और उससे उभरे तनाव व अविश्वास के कारण सामजिक- सांस्कृतिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

4.5 सांप्रदायिकता निवारण हेतु किए गए प्रयास

भारत में स्वतन्त्रता से पहले से ही सांप्रदायिक संघर्ष के उन्मूलन हेतु प्रयास किए गए।1918-22 के मध्य महात्मा गांधी द्वारा वैयक्तिक स्तर पर और अन्य राष्ट्रीय स्तर के नेताओं के द्वारा भी सांप्रदायिकता उन्मूलन हेतु अनेक प्रयास किए गए। स्वतंत्र भारत में इसके उन्मूलन हेतु निम्न प्रयास किए गए हैं

- 1962 में 'राष्ट्रीय एकता परिषद' की स्थापना सांप्रदायिकता निवारण के उद्देश्य से की गई थी।
- तत्कालीन गृहमंत्री ब्रह्मानंद रेड्डीके नेतृत्व में राष्ट्रीय एकीकरण पर गठित कार्यदल द्वारा 1976 में सांप्रदायिक सौहार्द के सात-सूत्री कार्यक्रम को नियोजित किया गया।
- धार्मिक अल्पसंख्यकों की समस्याओं के निवारण हेतु राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग का गठन और अन्य संस्थाओं द्वारा भी इन समस्याओं को दूकरने हेतु प्रयास किया जा रहा है।
- कुछ स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा भी इस दिशा में सराहनीय प्रयास किए जा रहे हैंयथा- शांति और अखंड भारत द्वारा सांप्रदायिक सौहार्द्र हेतु किए गए कार्य।
- कर्नाटक के बौद्धिक वर्ग द्वारा 2004 में सांप्रदायिक सौहार्द अभियान को संचालित किया गया।

4.6 सारांश

सामान्य शब्दों में सांप्रदायिकता वह भावना है जिसमें दो समुदायों के मध्य भाषा, जाति, धर्म, नृजातीय आधार पर संघर्ष, तनाव की मनोवृत्ति का उभार होता है। हालांकि भारत में सांप्रदायिकता का आधार धार्मिक है। भारत एक बहुलवादी राष्ट्र है और इसमें विभिन्न प्रकार के धार्मिक समुदाय (हिंदू 82.63

प्रतिशत, मुस्लिम 11.36 प्रतिशत, ईसाई 2.43 प्रतिशत, सिक्ख 1.96 प्रतिशत, बौद्ध 0.71 प्रतिशत और जैन 0.48 प्रतिशत) और उनसे संबंधित कई संप्रदाय हैं। यथाहिंदू में आर्यसमाजी, सनातनी, शैव, वैष्णव संप्रदाय हैं, मुस्लिम में शिया, सुन्नी और अशरफ, अजलफ और अरजल संप्रदाय हैं, सिक्ख में अकाली और निरंकारी संप्रदाय हैं। सांप्रदायिकता एक हद तक संबंधित समूह के लिए एकत्व का सृजन करती ,है परंतु इसका फैलान अन्य समाजों के लिए हानिकारक होता है।

4.7 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: सांप्रदायिकता के अर्थ और उसकी विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2: सांप्रदायिकता के कारण क्या हैं?

प्रश्न 3: सांप्रदायिकता के दुष्परिणामों को प्रस्तुत कीजिए।

प्रश्न 4: सांप्रदायिकता उन्मूलन हेतु किए गए प्रयत्नों पर प्रकाश डालिए।

4.8 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

वीर, ग. (2009).*राजनीतिक समाजशास्त्र*. नई दिल्ली: ओमेगा पब्लिकेशन्स

आहूजा, र. (2000). *सामाजिक समस्याएँ*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स

चंद्र, व. (2004). *सांप्रदायिकता*. नई दिल्ली: अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स

शर्मा, के.एल. (2006). *भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन* जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स

ज्ञान शांति मैत्री

खंड - 3

राजनीतिक परिदृश्य

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 1 क्षेत्रीयता

इकाई की रूपरेखा

1.1 उद्देश्य
1.2 प्रस्तावना
1.3 क्षेत्रीयता की अवधारणा
1.4 क्षेत्रीयता की कारक
1.5 भारत में क्षेत्रीयता के स्वरूप
1.6 क्षेत्रीयता के दुष्परिणाम
1.7 सारांश
1.8 बोध प्रश्न
1.9 संदर्भ एवं अयोगी ग्रंथ

1.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप -

- ❖ क्षेत्रीयता की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- ❖ क्षेत्रीयता के व्यापक कारकों को रेखांकित कर सकेंगे।
- ❖ भारत में क्षेत्रीयता के प्रभावों को स्पष्ट कर सकेंगे।
- ❖ क्षेत्रीयता के दुष्परिणामों का विश्लेषण कर सकेंगे।

1.2 प्रस्तावना

क्षेत्रीयता का तात्पर्य हम क्षेत्रवाद से भी ले सकते हैं। क्षेत्रीयता की असीम भावना ही क्षेत्रवाद को जन्म देती है। क्षेत्रीयता आज हमारे देश के विकास और राष्ट्र-निर्माण के लिए एक अवरोधक का कार्य करती हैं। क्षेत्रीयता का अर्थ एक क्षेत्र विशेष के लोगों का कुछ सामान्य आधारों पर उसी निश्चित क्षेत्र के साथ लगाव की भावना से समझा जा सकता हैं। जब इस भावना की प्रबलता बढ़ जाती है, तो व्यक्ति अपने क्षेत्रीय हितों के समक्ष राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करने लगता है और ऐसी स्थिति में क्षेत्रवाद या क्षेत्रीयता एक समस्या के रूप में सामने आती है। वर्तमान भारत में क्षेत्रीयता एक बहुत बड़े समस्या के रूप में उभरी है, जिसे राष्ट्रीय एकता के सामने एक बहुत बड़े संकट के रूप में देखा जा सकता है। महाराष्ट्र व मुंबई जैसे स्थानों में अन्य राज्यों के छात्रों के प्रति जोउग्र व्यवहार किया जा रहा है, साथ ही 'महाराष्ट्र मराठियों के लिए का नारा' और इसी प्रकार असम

में अन्य राज्यों के लोगों के साथ किया गया बर्ताव या 'असम माता पहले और भारत माता बाद में' जैसे क्षेत्रीयता के मसले और क्षेत्रवादी गतिविधियाँ राष्ट्रीयता के प्रमुख खतरे के रूप में देखे जा सकते हैं। अतः क्षेत्रीयता के संदर्भ में कई पहलुओं पर जांच करने की आवश्यकता हैं। आज एक ओर जहाँ भारत विविधता में एकता की बात करता है और वहीं दूसरी ओर एक राज्य दूसरे राज्य के लोगों के प्रति द्वेष की भावना रखते हैं । इस अध्याय के द्वारा हम यह जान सकते हैं कि किस प्रकार क्षेत्रीयता भारत और भारतीय लोगों को प्रभावित करता है और साथ ही हम क्षेत्रीयता के भिन्न आयामों को भी देखेंगे ।

1.3 क्षेत्रीयता की अवधारणा

क्षेत्रीयता से तात्पर्य अपने क्षेत्र के प्रति लगाव की वह भावना है, जिसमें व्यक्ति अन्य क्षेत्रों की तुलना में अपने ही क्षेत्र को अधिक प्राथमिकता देते हैं साथ ही अन्य क्षेत्रों की उपेक्षा करने से नहीं चूकते। भारत जैसे देश में क्षेत्रीयता का आधार भिन्न-भिन्न भाषाएँ, जनजातियाँ, संस्कृतियाँ तथा धर्मों की विविधता हैं। इन विविधताओं को विशेष क्षेत्रोंमें अपने-अपने पहचान चिन्हों के साथ, भौगोलिक रूप से साथ जुड़ाव होने के कारण आपसी प्रोत्साहन होता है । अतः किसी क्षेत्र के व्यक्ति यह सोचते हैं कि किसी अन्य क्षेत्र की तुलना में उन लोगों को किसी चीज़ या सुविधा से वंचित रखा जा रहा हैं, तो यह भावना आग में घी का कार्य करता है।

किसी व्यक्ति के मन में जब अपनी संस्कृति, व्यवहार प्रतिमान, भाषा और भौगोलिक दृष्टि से एक निर्धारित क्षेत्र के प्रति लगाव हो, तो वहाँ के सभी लोग 'हम की भावना' से प्रेरित हो जाते हैं। इसी को क्षेत्रवाद या क्षेत्रीयता कहा जाता है। क्षेत्रीयता के कारण लोग अपने क्षेत्र के अलावा अन्य लोगों को अपने से अलग समझते हैं। क्षेत्रीयता को परिभाषित करना इतना आसान नहीं होता, क्योंकि किसी भी क्षेत्र और प्रदेश को निर्धारित करने का कोई सामान्य आधार निर्धारित नहीं हुआ है। इसे हम कई अर्थों में समझते हैं, जिससे समस्याएँ और भी जटिल हो जाती हैं। उदाहरण के लिए , आज भाषाएँ केवल किसी प्रदेश को परिभाषित करने के लिए प्रयाप्त नहीं है। ऐसा भी होता है कि एक निश्चित स्थान में रहने वाले लोग यह अनुभव करते हैं कि उनके संवैधानिक उद्देश्य, जैसे-आर्थिक और सांस्कृतिक आदि, की ओर सरकार का विशेष ध्यान नहीं है और न ही यह उद्देश्य पूरे हो पा रहे हैं, जिससे क्षेत्रीयता की भावना उत्पन्न होती है। आज क्षेत्रीयता के विषय में दो प्रमुख दृष्टिकोण हमारे सम्मुख है- पहला, किसी भी व्यक्ति का अपने क्षेत्र या प्रदेश के लिए बढ़ती भक्ति, देश में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के ही कारण हैं। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले नागरिक आज सरकार के सामने अपने क्षेत्र के लिए वहीं आर्थिक और सांस्कृतिक प्रश्न उठा रहे हैं, जो पहले पूरे देश की उन्नति के लिए आवश्यक माना जाता था। दूसरा, आज के इस समकालीन सामाजिक संदर्भ में यह माना जा रहा है कि क्षेत्रीयता या क्षेत्रीय भावनाएँ राष्ट्रीय एकता में बाधक बन रही हैं , क्योंकि आज नागरिकों द्वारा राष्ट्रीय उद्देश्यों के स्थान पर क्षेत्रीय

उद्देश्य को सर्वोच्च स्थान पर रखा जाता हैं। क्षेत्रीयता की भावना से ग्रसित व्यक्ति के लिए सिर्फ अपने प्रदेश या क्षेत्र की उन्नति और विकास ही मायने रखती है। उसके लिए न तो अपने पड़ोसी राज्य और न ही अपने देश का विकास महत्त्व रखता है ।

भारतीय सरकार का हमेशा से यह उद्देश्य रहा है कि भिन्नता में एकता बनी रहे, चाहे भिन्नता सांस्कृतिक, धार्मिक या प्रजातीय हो, क्योंकि इसी एकता से ही देश का विकास हो सकता है। राजनैतिक उद्देश्यों के लिए जब आर्थिक असमानताओं का सहारा लेकर शोषण किया जाता है, तब क्षेत्रीयता की समस्या उत्पन्न होती है और क्षेत्रीय संगठन जन्म लेते हैं। आर सी. पांडे के अनुसार, "हिंदी बोलने वाले और न बोलने वाले क्षेत्रों में संघर्ष के अतिरिक्त अन्य घटनाएँ जैसे- असम में असमियों और बंगालियों में संघर्ष, महाराष्ट्र में शिवसेना द्वारा उत्तर भारतीयों का विरोध तथा तेलंगाना में आंध्राविरोध क्षेत्रवाद की ओर इंगित करता है।'आज पूरे देश में जो भी क्षेत्र क्षेत्रीयता से अप्रभावित हैं, उनमें स्थानीय मांगों को ही उठाया जा रहा है। पांडे के अनुसार, क्षेत्रवाद संघीय संरचना की एक समस्या है। एकता का शाब्दिक अर्थ है 'अंगों से समग्र का निर्माण करना'। इसमें हम अनेकता को मानकर चलते हैं तथा अंगों को एक साथ मिलाना इनका उद्देश्य हैं। अंगों में अनेकता होते हुए भी पारस्परिक सहायता की भावना होनी चाहिए।' अरुण चतरजी के अनुसार,"क्षेत्रवाद को बहुपरिणाम संबंधी पृथक विभागों से निर्मित प्रघटना तथा राष्ट्रीयता में ही निहित प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। क्षेत्रवाद तथा प्रांतवाद में अंतर हैं, क्योंकि प्रांतवाद में स्थानीयता, अलगाव तथा पृथकता के विचार निहित है। क्षेत्रवाद सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन में अंतर से प्रारंभ होता है।'

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है किकिसी भी क्षेत्र विशेष के लोगों द्वारा अपने क्षेत्र की भाषा और बोली को लेकर या अपनी आर्थिक स्थिति को लेकर अपने ही प्रदेश या क्षेत्र के हित को सर्वोपरि मानकर राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करना ही क्षेत्रवाद या क्षेत्रीयता कहा जाता है।

क्षेत्रीयता की विशेषताएँ

1. क्षेत्रीयता एक सिखा हुआ व्यवहार है ।
2. क्षेत्रीयता क्षेत्रीय श्रेष्ठता तथा स्थानीय देशभक्ति की भावना को बल देती है।
3. जब राष्ट्रीय एकता के नाम पर सारे देश में एक ही राजनैतिक विचारधारा और भाषायी व सांस्कृतिक प्रतिमान थोपे जाते हैं, तो प्रतिक्रिया स्वरूप क्षेत्रीयता सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन करती है।
4. क्षेत्रीयता क्षेत्र के आधार पर प्रशासन का विवेकीकरण करती है, जिससे उस क्षेत्र का विकास हो सके।

5. क्षेत्रीयता कई बार संकीर्णता को भी जन्म देती है। अपने क्षेत्र भाषा आदि को श्रेष्ठ मानने के कारण यह अन्य क्षेत्र के लोगों से स्वयं को सर्वोच्च मानते हैं, जिससे वे अपनी बाते मनवाने के लिए कई बार तोड़-फोड़ भी करते हैं, जिससे राष्ट्रीय संपत्ति और भावना का ह्रास होता है।

1.4 क्षेत्रीयता की कारक

क्षेत्रीयता आज कई राज्यों में तेज़ी से बढ़ती जा रही है, जिस कारण स्थानीय लोगों में अन्य प्रदेशों के लोगों के प्रति द्वेष और अस्थानीय लोगों में डर व्याप्त है। इसके लिए जो समकालीन कारक ज़िम्मेदार हैं, वह निम्नलिखित हैं-

1. **ऐतिहासिक कारक** : क्षेत्रीयता के उत्पन्न होने के पीछे ऐतिहासिक कारक के दो पक्ष रहें हैं – सकारात्मक और नकारात्मक। सकारात्मक कारक के संदर्भ के रूप में महाराष्ट्र के शिवसेना द्वारा अपने लोगों की भलाई के लिए गैर मराठियों को महाराष्ट्र से निकालने की बात करना और नकारात्मक कारक के रूप में-द्रविड़ मुनेत्र कडगम का यह कहना कि प्राचीन काल से ही उत्तरी राज्य दक्षिणी राज्यों पर शासन करते आए हैं।
2. **भाषा** : नार्मन डी. पामर का कहना हैं कि भारत की अधिकांश राजनीति क्षेत्रीयवाद और भाषावाद के बहुत से प्रश्नों के चारों ओर घूमती है। इनका विचार हैं कि क्षेत्रीयता की समस्या स्पष्ट रूप से भाषा से संबंधित होती हैं। भारत जैसे विविधता वाले देशों में कई भाषाएँ बोली जाती हैं, जिस कारण भारत में आज तक कई भाषाई आंदोलन हुए परिणाम स्वरूप अलग राज्यों का निर्माण भी किया गया। भारतीय सरकार ने भाषा के आधार पर कई राज्यों का गठन कर ऐसी समस्या उत्पन्न कर दी हैं, जिसने आज क्षेत्रीयता को और बढ़ावा दिया है।
3. **धार्मिक कारक** : भारत में कई बार धर्म भी क्षेत्रीयता की भावना को बढ़ाने का कार्य करता है। पंजाब में अकालियों की पंजाबी सूबे की मांग कुछ हद तक धार्मिक प्रभाव के कारण ही थी।
4. **आर्थिक कारक** : क्षेत्रीयता के विभिन्न कारकों में आर्थिक कारक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। असमान आर्थिक विकास के कारण भारत में असमान आर्थिक विकास के कारण कुछ राज्यों का विकास अधिक हुआ है और कुछ राज्यों का बहुत कम। इसका प्रमुख कारण यह है कि भारतीय शासन व्यवस्था में जिस राज्य के नागरिक के पास सत्ता आई उन्होंने क्षेत्रीयता की भावना के प्रभाव के कारण अपने ही क्षेत्र का अधिक विकास किया और अन्य राज्यों को कम प्राथमिकता दी; जैसे 1966 से पूर्व पंजाब में सत्ता पंजाबियों के हाथ में रहीं जिसके परिणामस्वरूप गुड़गाँव(गुरुग्राम), हिसार, महेंद्रगढ़, जींद आदि क्षेत्रों का विकास न के बराबर हुआ। आंध्र प्रदेश में सत्ता मुख्य रूप से वहीं के लोगों के पास रही, जिस कारण तेलंगाना पिछड़ सा गया। राजस्थान में पूर्वी राजस्थान पिछड़ा रह गया, उत्तर प्रदेश में पूर्वी उत्तर प्रदेश पिछड़ गया और इसी प्रकार महराष्ट्र का विदर्भ भी विकास नहीं कर पाया। इससे यह स्पष्ट

होता है कि पिछड़ी क्षेत्रों के पास सत्ता होती तो वे भी अपना विकास तीव्रता से कर पाते और वे पिछड़ों की श्रेणी में नहीं आते। अतः इन्हीं सब कारणों से वहाँ के लोगों में क्षेत्रीयता की भावना का पनपने लगी और उन्होंने अलग राज्यों की मांग की।

5. **राजनीतिक कारक** : भारत में क्षेत्रीयता की भावना भारत कहीं-न-कहीं राजनीतियों तज्ञों के भड़काने से और ज़्यादा बढ़ी है । कई राजनीतिज्ञ सत्ता के लालच में यह चाहते हैं कि क्षेत्रीयता के नाम पर वहाँ के लोगों से अपने अलग राज्य की मांग हो, जिससे वे अपनी राजनीतिक महत्त्वकांक्षाओं की पूर्ति कर सकें।
6. **राजनैतिक दल** : अपनी सत्ता और शक्ति को बचाने और बनाए रखने के लिए राजनैतिक दल क्षेत्रीयता को अपने हथियार के रूप में इस्तेमाल करता रहा है, फिर चाहे क्षेत्रीयता क्षेत्रीय दलों के द्वारा ही क्यों न उकसाया गया हो। क्षेत्रीयता के विकास में कई राजनैतिक दलों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन दलों में डी एम. के., अकाली दल, अन्ना डी. एम. के.,तेलगु देशम् नेशनल कॉन्फ्रेंस, असम गण परिषद आदि महत्त्वपूर्ण हैं।
7. **सांस्कृतिक और भौगोलिक कारक** : भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राज्यों का पुनर्गठन उन्हीं सीमाओं के आधार पर किया गया, जैसे वे स्वतंत्रता के पूर्व थे। इसी कारण एकराज्य में रहने वाले लोगों के बीच एकता की भावना उत्पन्न नहीं हो पाई । ऐसा देखा गया है कि संस्कृति और भाषा, क्षेत्रीयता की भावना उत्पन्न करने में बहुत सहयोग देते हैं। जैसे तमिलनाडु में रहने वाले लोग अपने संस्कृति और भाषा को भारतीय सस्कृंति से श्रेष्ठ मानते हैं। वे रामायण की कड़ी आलोचना करते हैं, जिस कारण 1975 में उन लोगों ने तमिलनाडु में कई स्थानों पर राम-लक्ष्मण के पुतले जलाएँ। 1960 में इसी आधार पर भारत से अलग होने के लिए उन लोगों ने व्यापक आंदोलन चलाया। द्रविड़ मुनेत्र कडगम की माँग आज भी बरकरार है।
8. **संचार संसाधनों का अभाव**: क्षेत्रीयता के एक महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में संचार साधनों का अभाव है। भारत जैसे विकासशील देश में संचार के साधनों का हमेशा से कमी रही है, जिस कारण भारत के कई क्षेत्रों में रहने वाले लोग भारत के अन्य कई क्षेत्रों से अनभिज्ञ रहे हैं, वे अन्य क्षेत्रों की भाषा और संस्कृति से भी अनभिज्ञ हैं, जिस कारण वे हमेशा राष्ट्र से अधिक अपने क्षेत्र को ज़्यादा प्यार करते हैं और वे अपने को भारत से अलग समझने लगते हैं।
9. **जाति** : क्षेत्रीयता की उत्पत्ति में जाति ने भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारत मेंउन क्षेत्रों में क्षेत्रीयता का सबसे उग्र रूप देखने को मिलता है, जहाँ किसी एक जाति की प्रधानता रही है। जिन क्षेत्रों में जाति का प्रभाव कम रहा है, वहाँ क्षेत्रीयता की भावना भी कम होती है। इसी कारण हम देख सकते हैं कि हरियाणा और महाराष्ट्र में क्षेत्रीयता उग्र रूप में व्याप्त है, जबकि उत्तर प्रदेश में यह नहीं है।

1.5 भारत में क्षेत्रीयता के स्वरूप

भारत में 'विविधता में एकता' का पर्याय भाषा, जाति, वर्ग, वर्ण इत्यादि से लिया जाता है। भारत में इतनी विविधता होने के कारण कई स्थानों पर आज क्षेत्रीयता को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। भारत में लोग अपने क्षेत्रीय स्थानों के नाम से ही जाने जाते हैं, जैसे बिहारी, बंगाली, मराठी, पंजाबी इत्यादि। भारत में कई प्रकार की क्षेत्रीय भावनाएँ भी हैं, जैसे कुछ लोगों को पूरे प्रदेशीय क्षेत्र(Region) से जाना जाता हैं, जैसे नॉर्थ ईस्ट, साउथ इत्यादि। अतः भारत में क्षेत्रीयता के कई स्वरूप प्रचलित हैं, जिसमें से चार निम्नलिखित हैं-

1. **बहुप्रदेश क्षेत्रीयता** : बहुप्रदेश क्षेत्रीयता के मुद्दे में एक से अधिक क्षेत्र शामिल होते हैं। इसे कुछ प्रदेशों की सामूहिक अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाता है भारत की स्वतंत्रता के पश्चात राजभाषा को लेकर काफ़ी मतभेद हुए। अंग्रज़ी के स्थान पर अब हिंदी को राज्य के अंतर्गत संवाद की भाषा के रूप में मान्यता देने की बात कही गई। इससे संबंधित निर्देश पारित होने के पश्चात भारत में एकता के स्थान पर और अधिक गहरा भाषायी प्रतिद्वंद् उत्पन्न हो गया। दक्षिणी भारत में हिंदी का विरोध प्रबल राजनैतिक अभिव्यक्ति के रूप में देखा गया। अतः भारत के दक्षिणी प्रदेश में इस प्रकार के विरोध को देखते हुए1959 में जवाहरलाल नेहरू ने यह आश्वासन दिया कि (1) उन पर हिंदी को नहीं थोपा जाएगा। (2) अंग्रेज़ी को सहायक क्षेत्रीय भाषा के रूप में सरकारी उद्देश्यों के लिए तब तक प्रयोग में लाया जाएगा, जब तक लोग यह नहीं चाहेंगे। इसका निर्णय हिंदी भाषी लोगों की अपेक्षा गैरहिंदी भाषी लोगों पर छोड़ दिया जाएगा।
2. **प्रदेश स्वायत्तता के लिए माँग** : क्षेत्रीयता का सबसे अधिक चुनौतीपूर्ण स्वरूप लोगों में कुछ प्रदेशों और क्षेत्रों को इस भारतीय संघ से अलग करने के रूप में उभरा है। इस प्रकार की मांगें स्वतंत्रता के पश्चात तुरंत उठने लगी परंतु अब हालत बदलने गए हैं। इस के उदाहरण के रूप में हम देख सकते हैं - पंजाब का अकाली दल, मिज़ो राष्ट्रीय मोर्चा, जनमत संग्रह मोर्चा, नागालैंड समाजवादी सम्मेलन आदि।
3. **अंतरप्रदेश क्षेत्रीयता**: क्षेत्रीयता का यह प्रकार राज्यों की सीमाओं से संबंधित है। इसमें दो या दो से अधिक प्रदेशों की सीमाएँ, एक दूसरे की अस्मिताएँ एक दूसरे को आच्छादित करने लगती हैं, जिससे उनके क्षेत्रीय हितों को खतरा भी उत्पन्न होने लगता हैं। सामान्यतः हम कह सकते हैं कि जल विवाद और अन्य मुद्दे, जैसे- महाराष्ट्र कर्नाटक सीमा विवाद को इसके एक उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है।
4. **अंतप्रदेश क्षेत्रीयता या उपक्षेत्रीयता** : क्षेत्रीयता के इस प्रकार में एक ही प्रदेश के किसी भाग का दूसरे भाग के साथ क्षेत्रीय अस्मिता और विकास की भावना निहित होती है। इसके अंतर्गत एक भाग का दूसरे भाग के ऊपर वंचन और शोषण का भी भाव दिखाई देता है। एस

प्रकार के क्षेत्रीयता का स्वरूप भारत के कई भागों में देखने को मिल जाता है। जैसे गुजरात में सौराष्ट्र, मध्य प्रदेश में छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र में विदर्भ, उत्तरप्रदेश में पूर्वी उत्तर प्रदेश इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

1.6 क्षेत्रीयता के दुष्परिणाम

क्षेत्रीयता की भावना लोगों में एकता का भाव उत्पन्न करती है, जो सिर्फ स्वयं के ही क्षेत्र और प्रदेश तक सीमित होता है; , परंतु यह भावना कहीं-न-कहीं राष्ट्रीय हित के लिए बाधक होती है अर्थात क्षेत्रीयता का महत्त्व तो है, परंतु इसका दुष्परिणाम उससे भी अधिक है। यह निम्नलिखित हैं-

1. **तनाव:** क्षेत्रीयता के कारण कभी-कभी राज्य सरकार और केंद्र सरकार के बीच तनाव का भी कारण बन जाता है। कोई भी क्षेत्र या राज्य सरकार सिर्फ अपने ही प्रदेश के लिए कार्य करने पर बल देती हैं, उससे चाहे अन्य राज्यों को कोई लाभ या नुकसान इसकी चिंता उन्हें नहीं है जबकि केंद्र सरकार की प्राथमिकता पूरा देश होता है और उनके लिए देश के सारे राज्य महत्त्वपूर्ण होते हैं।
2. **एकीकरण में बाधक :** क्षेत्रीयता राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया में बाधक का कार्य करती है। क्षेत्रीयता के कारण क्षेत्रीय समस्याएँ को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है, जिससे लोग व्यापक राष्ट्रीय समस्याओं और मुद्दों के प्रतिउदासीन हो जाते हैं।
3. **संघर्ष :** क्षेत्रीयता के कारण आज कई क्षेत्रों के लोगों के बीच संघर्ष और तनाव उत्पन्न हो रहा है; जैसे- असमियों और गैर-असमियों के बीच का तनाव झारखंडियों और (दीकुओं) गैर झारखंडियों के बीच का तनाव आदि। इससे एक ओर कानून और व्यवस्था की समस्या उत्पन्न हो रही है, वहीं दूसरी ओर भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त नागरिक स्वंतत्रता का भी हनन हो रहा है।
4. **आर्थिक विकास में बाधक :** क्षेत्रीयता के कारण आज आर्थिक विकास में अवरोध उत्पन्न हो रहे हैं, क्योंकि क्षेत्रीय हितों में उलझे रहने के कारण लोग राष्ट्रीय आर्थिक विकास और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से वंचित रह जाते हैं जिस कारण वे अपने आर्थिक विकास पर ध्यान नहीं दे पाते, साथ ही संघर्षों में संसाधनों का अपव्यय करते हैं।
5. **राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा :** क्षेत्रीयता की भावना के कारण राष्ट्रीय व्यवस्था के विरुद्ध होकर लोग राष्ट्रीय शक्ति को चुनौती देने लगते हैं जिससे बाहरी लोगों को मौका मिल जाता है और राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा उत्पन्न होने लगता है।

1.7 सारांश

क्षेत्रीयता एक ऐसी भावना है जिसमें किसी भी क्षेत्र विशेष के लोगों द्वारा अपने ही क्षेत्र को सर्वोच्च माना जाता है, जिसका परिणाम राष्ट्रीय हित के विपरीत होता है । क्षेत्रीयता कई कारणों

से हमारे देश के लिए एक समस्या के रूप में व्याप्त है। इसमें न सिर्फ एक क्षेत्र विशेष के ही उत्थान की बात की जाती है, बल्कि सरकार से इसे मनवाने के लिए संघर्ष का रास्ता भी अपनाया जाता है। परिणाम स्वरूप देश में कई अन्य समस्याएँ उत्पन्न हो रही है। आज पूरे समाज में कहीं न कहीं क्षेत्रीयता ने अस्थानीय लोगों के मन में खौफ उत्पन्न कर दिया है, जिसके कारण आवश्यक स्थानों पर भी कामगार या कई स्थानों पर तो पर्यटक भी जाने से घबराने लगे हैं।

1.8 बोध प्रश्न

1. क्षेत्रीयता की अवधारणा को स्पष्ट करें। इसके विशेषताओं पर भी प्रकाश डालें।
2. क्षेत्रीयता के विभिन्न कारकों को परिभाषित करें।
3. क्षेत्रीयता के कारण भारत में पड़ने वाले प्रभावों को स्पष्ट करें।

1.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

- Srinivas, M.N.(1995) :*Social Change in Modern India* . New Delhi, Orient Longman.
- सिंह, य.(2002) . *सांप्रदायिक हिंसा का समाजशास्त्र*. हस्तक्षेप, राष्ट्रीय सहारा।

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 2 आतंकवाद

इकाई की रूपरेखा

2.1 उद्देश्य
2.2 प्रस्तावना
2.3 आतंकवाद की अवधारणा
2.4 आतंकवाद के प्रकार
2.5 आतंकवाद के नियंत्रण के उपाय
2.6 सारांश
2.7 बोध प्रश्न
2.8 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

2.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप -

1. आतंकवाद की अवधारणा को समझ सकेंगे।
2. आतंकवाद के प्रकारों को स्पष्ट कर सकेंगे।
3. आतंकवाद के नियंत्रण के उपायोंको अभिव्यक्त कर सकेंगे।

2.2 प्रस्तावना

आतंकवाद आज एक वैश्विक समस्या के रूप में हमारे सामने मौजूद है जिसका समाधान अभी नहीं किया गया, तो यह मानवता को ही खत्म कर देगा। आतंकवाद का मुख्य उद्देश्य समाज में भय आतंक फैलाना है। यह एक ऐसा मुद्दा है जो हिंसा का दूसरा नाम है जिसे हम अनेक रूपों में देख सकते हैं; जैसे- गोलियाँ चलाना, बंधक बनाना, हवाई जहाज को अपनी मर्जी से बंदूक से दम पर अपने स्थानों पर ले जाना और सरकार से बातें मनवाना, गोलाबारी इत्यादि। यह अपना आतंक हर किसी पर फैलाते है, ये न तो नागरिकों को छोड़ते हैं, न सैनिकों को, न सैनिक संस्थानों को छोड़ते हैं, न ही अस्पतालों को। अमेरिका(2001) में विश्व व्यापार केंद्र में 9/11 में हुआ आतंकी हमला, भारत में दिसंबर 2001 में हुआ संसद पर हमला व मुंबई2008 में आतंकी हमला आदि आतंकवादी गतिविधियों के उदाहरण हैं। यह किसी एक देश के विरुद्ध की गई विध्वंसक कार्यवाही नहीं है, बल्कि यह पूरे मानव सभ्यता के खिलाफ की गई कार्यवाही है। वैश्विक शांति स्थापना के लिए या मानवाधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक है कि आतंकवाद की समस्या को जड़ से खत्म कर दिया जाए और इसके लिए पूरे विश्व के राज्यों को एक साथ मिलकर इसके खिलाफ लोहा लेने की ज़रूरत है।

2.3 आतंकवाद की अवधारणा

आतंकवाद से तात्पर्य एक ऐसी विचारधारा से है, जो समाज में आतंक अर्थात डर या भय पैदा करने या फैलाने से है। आतंकवाद आज पूरे समाज में एक विशाल समस्या के रूप में विद्यमान है, जो हमारे सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक सभी पक्षों को प्रभावित करता है। आज आतंकवाद पूरे विश्व के सुखशांति के लिए खतरा बन गया है। Schmid Alex (Political Terrorism: A Research Guide)के अनुसार "आतंकवाद हिंसा या हिंसा की धमकी के उपयोग द्वारा लक्ष्य प्राप्ति के लिए संघर्ष/लड़ाई की एक विधि व राजनीति है एवं अपने शिकार में भय पैदा करना इसका मुख्य उद्देश्य होता है। यह क्रूर व्यवहार है, जो मानवीय प्रतिमानों का पालन नहीं करता। इसकी राजनीति में, प्रचार एक आवश्यक तत्व है।"

संयुक्त राष्ट्र महासभा के वर्ष2000 में हुए 55 वें आधिवेशन में अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद पर अभिसमय का ड्राफ्ट तैयार हुआ, जिसके अनुच्छेद 2(1) के अनुसार – किसी राज्य के विरूद्ध किया गया कोई भी आपराधिक कृत्य, जो आम लोगों या समूहों में आतंक या गम का वातावरण निर्मित करता है, आतंकवाद है। इसमें किसी की मृत्यु चोट, निजी व सार्वजनिक संपत्ति की हानि शामिल हैं।

उच्चतर समाजशास्त्र विश्वकोश के अनुसार,"एक सी विधि या तरीके को आतंकवाद कहा जाता है, जिसमें कोई संगठित समूह योजनाबद्ध रूप में हिंसात्मक क्रियाओं के प्रयोग द्वारा किसी व्यक्ति, समुदाय या उसके किसी एक बृहत भाग को भयभीत कर अपने वांछित समूहिक उद्देश्य/उद्देश्यों को प्राप्त करता है। सामान्यतः हम जिस आतंकवाद से परिचित है, उसका सरोकार अधिकांशतः सत्ता की राजनीति से है।"

आतंक के कई स्वरूप आज हमारे समाज में विद्यमान है। कई बार हम सारे आतंक की घटनाओं को आतंकवाद ही समझ लेते हैं परंतु आतंकवाद, विद्रोह या उपद्रव, गुरिल्ला युद्ध, क्रांति, गृह युद्ध, उग्रवाद, नक्सलवाद, अभित्रास(भयभीत करना) आदि जैसे शब्द एक नहीं होते, लेकिन लोग इन्हें एक समझ लेते हैं, क्योंकि इन सब में एक कारक समान है, वो है हिंसा। आतंकवाद को हम अभित्रास की एक संगठित पद्धति के रूप में समझसकते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि आतंकवाद एक ऐसा हिंसात्मक व्यवहार है, जो किसी समाज या उसके एक बड़े भाग में राजनैतिक उद्देश्यों के कारण भय और आतंक उत्पन्न करने के इरादे से किया जाता है। साथ ही एक संगठित दल या समूह के द्वारा अपनाया गया एक ऐसा तरीका है जो अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मुख्य रूप से योजनाबद्ध हिंसा का सहारा लेते है।

प्रमुख अंतरराष्ट्रीय आतंकवादी संगठन

- फतह (ट्यूनिस)
- हम्मास,हिजबुल्लाह(लेबनान,फिलिस्तीन)
- हिजबुल मुजाहिदीन(भारत,पाकिस्तान)
- नेशनल रिबरेशन आर्मी (जॉर्डन)
- हरकत उल अनसार(कश्मीर, भारत)
- लिबरेशन फ्रंट(फ्रांस)
- इस्लामिक स्टेट (ISIS)(सीरिया, इराक)
- ग्रीक राइटिस्ट टेररिस्ट(इटली)
- इस्लामिक उक्लावी महाज(पाकिस्तान)
- नेशनल लिबरेशन आर्मी(कोलंबिया)
- इस्लामिक सलवेशन फ्रंट(यूरोप)
- इस्लामिक ग्रुप(अल्ज़ीरिया)
- बोको हरम (नाइज़ीरिया)
- अबु निदाल आर्गनाइजेसन(लीबिया, लेबनान)
- आर्मड(मनीला, फिलीपींस)
- अलस्टर डिफेंस एसोसिएसन(नॉर्थ आयरलैंड)

आतंकवाद की विशेषताएँ-

आतंकवाद के कारण देश भय के साये में रहता है, क्योंकि आज यह अनियमित और क्रूर उत्पीड़न, जान-माल के नुकसान या ज़ोर-ज़बरदस्ती के तकनीक के रूप में उभरा है। इसका इस्तेमाल ऐसे राष्ट्रों संगठनों द्वारा किया जाता हैं, जो उपद्रव और तनाव की स्थिति उत्पन्न कर अपने भ्रांतिपूर्ण लक्ष्यों की प्राप्ति करना चाहते हैं। आतंकवाद की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

- यह राजनैतिक उद्देश्यों के कारण होता हैं।
- आतंकवाद किसी राष्ट्र या राज्य के विरुद्ध होता है।
- इसके कारण बुद्धिसंगत विचार समाप्त होजाते हैं।
- आम लोगों में आतंकवाद के कारण लाचारी और बेबसी की भावना उत्पन्न होती है।

- आतंकवाद के लक्ष्य न केवल पीड़ित को डराने से है, अपितु यह जन-साधारण को भी डराने और उनमें आतंक फैलाने की कोशिश करता है, जिससे वे उन पर नियंत्रण कर सके।
- आतंकवाद लड़ने या भागने की एक प्रक्रिया भी है।
- यह गैरकानूनी और अवैध भी होता है।
- आतंकवाद द्वारा फैलाई गई हिंसा में मनमानी होती है, क्योंकि पीड़ितों का चुनाव निश्चित नहीं होता।

2.4 आतंकवाद के प्रकार

आतंकवाद का स्वरूप आज व्यापक हुआ है। आज आतंकवाद के नए चेहरे सामने आए हैं। कोई आतंकवाद धर्म के नाम पर फैला रहा है, तो कोई वैचारिक आधार पर ऐसे ही विभिन्न प्रकार के आतंकवाद आज हमारे समाज में विद्यमान हैं, जिसका न तो मानवता से कोई सरोकार है और न ही सरकार से, इन मुख्य लक्ष्य सिर्फ आतंक फैलाना ही है, जिससे समाज में डर और भय व्याप्त रहे। अतः आतंकवाद के विभिन्न प्रकार निम्नलिखित हैं-

1. **वैचारिक आतंकवाद (Ideologically Oriented Terrorism)**: आतंकवाद के इस स्वरूप का आधार वैचारिक होता है, यह अभिजन शासन प्रणाली दक्षिणपंथी विचारधारा एवं यथास्थितिवादी व्यवस्था का समर्थन करता है। भारत में वैचारिक आतंकवादी वामपंथी विचारधारा से प्रेरित होने का दावा करते हुए यथास्थितिवाद के विरुद्ध और परिवर्तन के लिए अभियान चलाने को तत्पर रहते हैं। वैचारिक आतंकवाद के उदाहरण के रूप में हम इटली के फासीवाद, जर्मनी के नाज़ीवाद, अमेरिका के कू क्लक्स क्लॉन (KKK – Ku Klux Klan) और डेन्मार्क के जैकेट्स को देख सकते हैं।
2. **धार्मिक आतंकवाद (Religious Terrorism):** आतंकवाद का वह स्वरूप हैं, जो धर्म को आधार बना कर समाज में आतंक फैलता है। यह धार्मिक भावनाओं, स्वधर्मकेंद्रवाद एवं कट्टरपंथी प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप लोगों को प्रभावित करता है, जैसे अलकायदा। आज वैश्विक स्तर पर कई धार्मिक आतंकवाद अपने पैर जमाए हुए हैं, जिसमें इस्लामिक स्टेट, लश्कर-ए-तोएबा, तालिबान, सिमी आदि प्रमुख हैं।
3. **नारको आतंकवाद(Narco Terrorism)**: नारको आतंकवाद, आतंकवाद का ऐसा स्वरूप है, जो मादक पदार्थों की तस्करी के कारण उत्पन्न हुआ है और आतंकवाद का एक साधन भी है। पेरू के पूर्व राष्ट्रपति फर्नांडो बेलांदे टेरी(Fernando Belaunde Terry, 1912-2002) ने 1983 में सर्वप्रथम नारको आतंकवाद शब्द का प्रथम प्रयोग किया था।

4. **एथनो-राष्ट्रवादी आतंकवाद(Ethno-Nationalist Terrorism)**: आतंकवाद का ऐसा स्वरूप जो एथनिक विभिन्नताओं के कारण पैदा होने वाली पृथकवादी आकांक्षाओं से प्रभावित होता है। एथनो-राष्ट्रवादी आतंकवाद के उदाहरण के रूप में उत्तरी पूर्व भारत में और श्रीलंका में लिट्टे के आंदोलन को हम देख सकते हैं।

5. **राज्य प्रायोजित आतंकवाद(State Sponsored Terrorism)**: इस प्रकार का आतंकवाद विदेश नीति और कूटनीति के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए हो रहे प्रयासों का परिणाम होता है। कई देश इसे प्रायोजित रूप से दुश्मन देशोंकी शांति और समृद्धि को भंग करने के लिए बढ़ावा देते हैं। राज्य प्रायोजित आतंकवाद के कई उदाहरण हमें शीत युद्ध के दौरान देखने को मिलते हैं। हमारे भारत देश की भी शांति और समृद्धि कई बार पाकिस्तान द्वारा प्रायोजित आतंकवाद के कारण बाधित हुई है।
6. **साइबर आतंकवाद(Cyber Terrorism)**: जब कंप्यूटर और इंटरनेट के माध्यम से डर और दहशत फैला कर समाज को नुकसान पहुँचाया जाता है, तो इसे साइबर आतंकवाद कहा जाता है। इसके माध्यम से सूचना औरप्रौद्योगिकी के क्षेत्र में गड़बड़ी और धमकी देकर लोगों में दहशत फैलाई जाती है। भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम, 2000 की धारा 66-F के तहत साइबर आतंकवाद के लिए आजीवन कारावास तक के दंड का प्रावधान है। साइबर आतंकवाद शब्द का सबसे पहले प्रयोग जेरेडे पेट्रम (1997) ने किया था। उस समय से इसकी अलग-अलग व्याख्याएँ होने लगी हैं, जिसने इसके विभिन्न रूपों को परिभाषित किया हैं।
7. **आत्मघाती आतंकवाद (Suicide Terrorism)** : आत्मघाती आतंकवाद में मानव-बमों के माध्यम से आतंक फैलाने और लोगों में डर का माहौल बनाया जाता है। आत्मघाती आतंकवाद का इस्तेमाल सबसे पहले 1984 में बेरूत में अमेरिकी मैरिन बैरक पर आक्रमण के लिए किया गया था। आत्मघाती आतंकवाद का इस्तेमाल भारत में लिट्टे द्वारा राजीव गांधी के हत्या के लिए और प्रेमदास की हत्या में भी किया गया था। कश्मीर के फिदायीन हमलों(1990) में जेहादी आतंकवादियों द्वारा भी आत्मघाती मानव-बम का इस्तेमाल किया गया था। आत्मघाती आतंकवाद में आतंकवादी स्वयंके साथ-साथ अन्य लोगों के जीवन का भी हनन करते हैं।
8. **पर्यावरण आतंकवाद (Environmental Terrorism) :** जब कोई घटनाएँ पर्यावरण को नुकसान पहुँचाती हैं, तो इसे पर्यावरण आतंकवाद कहा जाता हैं। जैसे- खाड़ी युद्ध के समय इराक ने कुवैत के 1000 से अधिक तेल के कुओं में आगलगा दी थी, जिससे

प्राकृतिक संसाधन के रूप में मौजूद तेल के कुएं कई दिनों तक जलते रहें और पूरा खड़ी क्षेत्र भयंकर रूप से प्रदूषित हो गया।

2.5 आतंकवाद के खिलाफ भारत द्वारा किए गए प्रयास

भारत, स्वतंत्रता के पश्चात कई बार पाकिस्तान से अपने मतभेद के कारण आतंकवादका सामना करता आ रहा है; जिससे भारत को जन-धन का नुकसान तो हो ही रहा है साथ ही आतंकवाद के कारण विकास के प्रयास भी प्रभावित हुए हैं, खास कर सीमावर्ती इलाकों में। इससे निपटने के लिए भारत ने कई प्रयास भी किए, जिसके तहत 1985 में टाडा (The Terrorists and Disruptive Activities Prevention Act "आतंकवादी एवं विध्वंसक गतिविधि रोकथाम एक्ट') नामक कानून का निर्माण किया गया। इस कानून के द्वारा न सिर्फ आतंकवादियों को दंड देने का प्रावधान है बल्कि मनोनीत (designated) न्यायालयों की स्थापना करने का भी प्रावधान हैं। इस कानून के तहत जमानत रद्द हो जाती है और अपराधी द्वारा पुलिस को दिए गए इक़बालिया बयान को सबूत के रूप में स्वीकृति पर ज़ोर देती है। टाडा अभियुक्त को मजिस्ट्रेट के सामने पेश न कर अधिकारी के सामने पेश करती है, जिसके पश्चात अपराधी को छः माह से एक साल तक के रिमांड में सौंपा जा सकता है। इसके तहत एक साल तक आरोप-पत्र भी दाखिल करना आवश्यक नहीं है।

भारत द्वारा किए गए अन्य प्रयास के रूप में आतंकवाद फंडिंग का पता लगाने और उसे रोकने हेतु **'मनी लाउड्रिंग विधेयक'** भी आतंकवाद को रोकने के लिए एक सराहनीय पहल है। इस विधेयक के द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था में आए काले धन तक आतंकवादियों की पहुँच को काफ़ी हद तक रोका जा सकता है। आतंकवादके मुख्य स्थानों में अवैध प्रवास और घुसपैठ रही है, अतः इन अवैध प्रवासियों और घुसपैठ के रोकथाम हेतु 'भारतीय विशिष्ट पहचान प्राधिकरण' द्वारा जारी 'आधार कार्ड' एक सकारात्मक पहल है।

आतंकवाद की समस्या से निपटने के लिएकई अन्य देशों ने भी क़ानूनों का निर्माण किया हैं, जिससे भारत को भी सीखने की जरूरत है; जैसे आस्ट्रेलिया का 'कंट्रोल ऑर्डर', जिसके तहत पुलिस को संदिग्ध को कहीं भी रोकने और तलाशी लेने का अधिकार है। ब्रिटेन का काउंटर टेरेरिज़्म एक्ट, जिसके तहत यह प्रावधान है कि संदिग्ध आतंकवादी को आरोप पत्र से पहले20 से 42 दिनों तक हिरासत में रखा जा सकता है। यू.एस.ए. का 'पैट्रियट एक्ट, 2001' जिसके तहत आतंकवाद को रोकने एवं बाधा डालने के लिए सारे कानूनी प्रावधान है। बांग्लादेश में भी 'विशेष पंचाट' की व्यवस्था है, जिसके तहत वह आतंकवाद से जुड़े किसी भी मामले को छः माह के भीतर निपटाते है।

भारत को भी इस प्रकार के उदाहरणों से सीख लेकर अपने क़ानूनों को और बेहतर बनाना चाहिए , जिससे वह आतंकवाद की समस्या का सामना आसानी से कर सके, परंतु भारत में आतंकवादियों के मुत्युदंड को लेकर राजनीति होने लगती है जिससे अपराधी को सही वक्त पर और उचित सज़ा नहीं मिल पाती है। भारत में नीतियाँ तो बनती है, पर उसका क्रियान्वयन नहीं हो पाता है, इसी संदर्भ में हार्वर्ड विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्री **लेंट प्रितचेट** ने भारत को **'फ्लेलिंग स्टेट'** कहा है, जिसका अर्थ है-मस्तिष्क मेधावी, किंतु बाकी अंग निष्क्रिय। अतः भारत को अपने इस रवैये को त्याग कर अपने कानूनों में सुधार कर सख्ती से पालन करने की आवश्यकता हैं, नहीं तो भारत को बार-बार आतंकवादियों के द्वारा किए जाने वाले नुकसान को झेलना पड़ेगा। अमेरिका में हुए 11 सितंबर, 2001 के आतंकवादी घटना के विरुद्ध अपनाए गए कठोर कदम के पश्चात वहाँ आतंकवाद की एक भी घटना नहीं हुई है, जबकि भारत में उन स्थानों पर भी आतंकवादी घटनाएँ होने लगी है, जो अमूमन शांत मानी जाती थी।

भारत द्वारा आतंकवाद को रोकने के लिए जो कदम उठाए गए हैं, वह इसे रोकने के लिए पूर्ण रूप से सक्षम नहीं है। अतः भारत को अन्य देशों के सफल प्रयासों से सीख लेकर अपने क़ानूनों में संशोधन करने की आवश्यकता है।

2.6 आतंकवाद के नियंत्रण के सुझाव

विकसित और विकासशील देशों के लिए आतंकवाद आज एक गंभीर समस्या के रूप में उभर कर सामने आया है। इसका सामना करना उतना ही जरूरी है, जितना कि एड्स का। इसके निपटान के लिए केवल राजनीतिज्ञों पर भरोसा नहीं किया जा सकता। जन-साधारण के मध्य जागरूकता और व्यक्तियों पर दबाव डाल कर ही इसे रोका जा सकता है। आतंकवाद एक ऐसी बीमारी के रूप में आज हमारे समाज में फैला हुआ है, जिसका इलाज एक बार में मुमकिन नहीं है, इसे धीरे-धीरे ही धैर्य के साथ खत्म करना होगा। इस कार्य के लिए यह आवश्यक है कि त्रि-स्तरीय रणनीति बनाना आवश्यक है –

1. संयुक्त राष्ट्र संघ को अतंरराष्ट्रीय स्तर पर सुरक्षा प्रहरी की भूमिका का निर्वाह करना होगा, जिससे आतंकवाद के विरुद्ध उसके निर्णय बाध्यकारी हो जाए। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर आतंकवाद के खिलाफ लिए गए फैसले पूरे विश्व में लागू हो। अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों में आतंकवाद के रोकथाम हेतु सकारात्मक निर्णय लिए जाए तथा आतंकवादियों को प्रश्रय देने वाले देशों पर कड़ी से कड़ी कार्यवाही करते हुए अंतरराष्ट्रीय समुदाय से पूर्णतया बायकॉट किया जाए, उनका अंतरराष्ट्रीय व्यापार और वित्तीय सहायता पूरी तरह से बंद कर दिया जाए।
2. राष्ट्रीय स्तर पर सभी राज्यों को यह प्रतिज्ञा लेनी होगी कि वह हमेशा आतंकवाद से लड़ने के लिए प्रतिबद्ध रहेंगे और किसी भी लालच और स्वार्थ के कारण न तो आतंकवाद को बढ़ावा

देंगे और न ही अपने राज्य के जमीन पर किसी आतंकवादी को आश्रय देंगे। अगर कोई राष्ट्र जानबूझकर ऐसा करता है, तो उसके विरुद्ध अंतरराष्ट्रीय मोर्चाबंदी की जाए।

3. इस स्तर पर राष्ट्र को नहीं व्यक्ति को अपने स्तर पर आतंकवाद से लड़ने का प्रयास करना होगा। जब तक इसमें व्यक्ति अपने स्तर पर आतंकवाद का सामना नहीं करेंगे, तब तक इसका पूर्ण रूप से समाधान करना मुश्किल है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का यह उत्तरदायित्व है कि अपने समाज में हो रही संदिग्ध गतिविधियों पर नज़र रखें और उसकी जानकारी पुलिस को दें। इस प्रकार के प्रयास को व्यक्तिगत और सामूहिक या समूहिक स्तर पर भी किया जा सकता है।

आतंकवाद पर अमेरिका की **'कंट्री रिपोर्ट, 2007'** में भारत को विश्व के सर्वाधिक आतंक प्रभावित देशों में शामिल किया है, फिर भी आज भारत के आतंक विरोधी प्रयास पहले जैसे ही हैं। वैधानिक प्रवर्तन और विधायी प्रणालियों के कारण भारतीय आतंक विरोधी प्रयास अप्रभावी रहे हैं। इसके लिए यह आवश्यक हो जाता हैं कि भारत को अपने आतंक विरोधी न्यायिक प्रक्रिया को राष्ट्रीय स्तर पर सुदृढ़ और तीव्र करें। साथ ही निम्नलिखित उपायों द्वारा आतंकवाद के खिलाफ लड़ सकते हैं-

- राष्ट्रीय स्तर पर खुफिया तंत्र द्वारा एकत्रित आंकड़ों और सूचनाओं का विश्लेषण और जाँच कर।
- पुलिस प्रशासन के पास प्रयाप्त संसाधन मुहैया करवा कर।
- आतंकवादियों के खिलाफ 'ऑपरेशन', जैसी कार्यवाही कर।
- सूचना प्रणाली को हाइटेक कर, मीडिया जाँच एजेंसियों का सहयोग लेकर।
- तटीय सुरक्षा को मज़बूत कर।
- अपने देश की गुप्त सूचनाओं को सार्वजनिक न करके साथ ही आतंकवादियों का महिमा मंडन न कर।
- बंदरगाहों और हवाई अड्डों पर जाँच प्रणाली सशक्तकर।
- देश की सीमाओं पर चौकसी के लिए आधुनिक सूचना तंत्र से जोड़ कर।
- खाली पड़ी हवाई पट्टियों की सशक्त चौकसी कर।
- देश के सेना, पुलिस, अर्धसैनिक बलों के पास आधुनिक हथियार और संसाधन देकर।
- राष्ट्रीय सुरक्षा को नज़र में रखते हुए अवैध प्रवासियों को देश से बाहर निकाल कर।
- गृह मंत्रलाय को और अधिक ज़िम्मेदार बनाकर, जिससे आतंकवाद पर 'राष्ट्रीय डाटा बेस' को तैयार किया जा सके।

- देश के **संघीय जांच एजेंसी**(NIA) को जाली करेंसी, आतंकवाद, विमान अपहरण, आण्विक प्रतिष्ठानों पर संभावित खतरों, समुद्री सुरक्षा, राजद्रोह और राष्ट्र के विरुद्ध युद्ध जैसे सार्वदेशिक मामलों के जाँच के लिए पूर्ण अधिकार देकर।

2.7 सारांश

आज आतंकवाद की समस्या पूरे विश्व के लिए एक चिंता का विषय है। आतंकवाद को हम राष्ट्रीय या अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ही सुलझा सकते हैं। सिर्फ एक राज्य न तो इस समस्या का समाधान कर सकता है और न ही इसका उन्मूलन। संयुक्त राष्ट्र को चाहिए कि वह स्वयं इस समस्या के उन्मूलन के लिए इसे वैश्विक मंचों पर लाए और इसके विरुद्ध वैश्विक स्तर पर अभियान चलाया जाए। आज स्थिति ऐसी है कि पूरे विश्व के सारे राष्ट्रों को आतंकवाद के विरुद्ध एक होकर युद्ध की घोषणा करनी चाहिए। संसार के सभी राष्ट्रों में आतंकवाद के विरुद्ध समान जनमत तैयार करना चाहिए। इस समस्या के उन्मूलन के लिए सारे राज्यों को अपने रक्षा के लिए सख्त और कड़े कानून बनाने चाहिए, जिसका न सिर्फ निर्माण हो, बल्कि इसे जल्द लागू करने के लिए संयुक्त प्रयास भी होने चाहिए। आज बढ़ रही आतंकवादी गतिविधियों को रोकने और समाप्त करने के लिए न सिर्फ सीमा के जवानों को, बल्कि सभी राज्यों के पुलिस और सह-सैनिक दस्ते को भी मिल-जुलकर इससे मुक़ाबला करना चाहिए। राज्यों में यह जागरूकता फैलानी चाहिए कि आतंकवाद का कोई जाति या धर्म नहीं होता। यह तो शांति और सुरक्षा का, कानून और व्यवस्था का, संस्कृति व सभ्यता का, नैतिकता व मानवता का शत्रु है, जिसका सबसे बड़ा धर्म आतंक फैलाना है।

2.8 बोध प्रश्न

- आतंकवाद को परिभाषित करें। इसके विशेषताओं पर भी प्रकाश डालें।
- आतंकवाद के विभिन्न प्रकारों को विश्लेषित करें।
- समकालीन समाज में आतंकवाद को रोकने और समाप्त करने के सुझाव प्रस्तुत करें।

2.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

- Hoffman, B.(2006). *Inside Terrorism. Columbia, Columbia University press.*
- Stren,J, Berger, J.M.(2015). *ISIS: The State of Terror* :Ecco
- Marvah, Ved. (1970). *Pathology of Terrorism in India*. Delhi
- Saxena, N.S. (1985). *Terrorism : History and facts in the world and in India* . New Delhi, AbhinavPablications.

इकाई 3
नक्सलवाद

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 नक्सलवाद का आशय
3.3 भूदान आंदोलन
3.4 नक्सलवाद का विस्तार
3.5 नक्सली आंदोलन का प्रभाव क्षेत्र
3.6 नक्सलवाद: सामान्यीकृत निष्कर्ष
3.7 सारांश
3.8 बोध प्रश्न
3.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप –

- नक्सलवाद को समझ पाने में सक्षम हो सकेंगे।
- नक्सलवाद के विस्तार को जान पाने में सफल हो सकेंगे।
- नक्सली आंदोलन के प्रभाव क्षेत्र के बारे में समझ विकसित कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

इस इकाई में नक्सलवाद के बारे में विवेचन प्रस्तुत किया गया है। नक्सलवाद को हम किस प्रकार देखते हैं? इसका विस्तार किस प्रकार हुआ है और कहाँ तक हुआ है? नक्सली आंदोलन का प्रभाव क्षेत्र क्या है? और समकालीन संदर्भ में इससे संबंधित निष्कर्ष क्या प्राप्त हो रहे हैं आदि प्रकार के प्रश्नों के उत्तर तलाशने से संबंधित तथ्य इस इकाई के माध्यम से प्रस्तुत किए गए हैं।

3.2 नक्सलवाद का आशय

नक्सलवाद कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के आंदोलन का अनौपचारिक नाम है। दूसरे शब्दों में नक्सलवाद अथवा माओवाद वामपंथी अतिवाद का ही नाम है। पश्चिम बंगाल के छोटे से गाँव नक्सलबाड़ी से नक्सल शब्द की उत्पत्ति हुई है। भारत में पहली बार 1960 में वामपंथी अतिवाद ने अपना विकृत स्वरूप दिखाया। नक्सलबाड़ी स्थान नेपाल से 4 मील, बांग्लादेश से14 मील, सिक्किम से 30 मील और तिब्बत

से 80 मील की दूरी पर अवस्थित है। यह क्षेत्र1967 में साम्यवाद प्रभावित किसान सभा द्वारा किए गए भूमि संबंधी संघर्ष के कारण प्रसिद्धहो गए। नक्सलबाड़ी गाँव में 2 मार्च, 1967 को बिगुल नाम के किसान को स्थानीय जमींदार के कुछ लोगों द्वारा पीटा गया। इस घटना के दूसरे ही दिन किसान आंदोलनकारियों की एक बड़ी जमात ने भूमि के एक बड़े भाग को लाल झंडे से घेर लिया और उसकी खुदाई करनी आरंभ कर दी। इसकी सूचना पुलिस को दी गई, जिससे कि पुलिस ने उनपर दमनात्मक कार्रवाई की। 23 मई को किसान आंदोलनकारियों ने एक इंस्पेक्टर की हत्या कर दी। इसके प्रत्युतर में पुलिस ने 9 महिलाओं और बच्चों को मार दिया। धीरेधीरे विद्रोह उग्र स्वरूप धारण करने लगा और जमींदारों को मारकर पेड़ों पर लटकाया जाने लगा। सरकारी दफ्तरों से भूमि के कागजों को जला दिया गया। इसके पश्चात जमीदारों द्वारा सताए गए लोग और जाति व्यवस्था से शोषित लोग भी इस आंदोलन में भाग लेने लगे। इससे आंदोलन और भी सशक्तहो उठा।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेता चारु मजूमदार और कान्हु सान्याल के नेतृत्व में यह सशस्त्र आंदोलन आरंभ हुआ था। चारु मजूमदार चीन के कम्युनिस्ट नेता माओत्से तुंग के प्रशंसक थे और उनका यह मानना था कि सरकारी नीतियों के कारण ही भारतीय मजदूरों और किसानों की यह दुर्दशा हुई है। साथ ही इसी कारण उच्च वर्ग का वर्चस्व शासन और कृषि आदि सभी क्षेत्रों पर स्थापित है। इस न्यायहीन, असमतापूर्ण दमन को समाप्त करने के लिए सशक्त क्रांति ही एक मात्र उपयुक्त साधन है। फलस्वरूप कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों द्वारा एक अखिल भारतीय समन्वय समिति का गठन किया गया और इन विद्रोहियों ने स्वयं को भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से पृथक कर लिया। इसके उपरांत सरकार के विरोध में सशक्त क्रांति का आह्वान किया। मजूमदार की मृत्यु के पश्चात यह आंदोलन कई भागों में विभक्त हो गया और साथ ही आंदोलन अपने लक्ष्यों और विचारधारा से भी दिग्भ्रमित हो गया।

आज कई नवीन नक्सली संगठन बन चुके हैं। कुछ तो स्वीकृत राजनीतिक पार्टी का स्वरूप भी धारण कर चुके हैं, तो कुछ आज भी विद्रोह की दिशा में तत्पर हैं।

3.3 भूदान आंदोलन

आचार्य विनोबा भावे द्वारा 1951 में इस आंदोलन को चलाया गया था। उनकी कोशिश यह थी कि भूमि का पुनर्वितरण सिर्फ कानूनीमाध्यम से न हो, अपितु एक सामाजिक आंदोलन के माध्यम से इसके लिए सफल कोशिश की जाए। आचार्य का मानना था कि भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में व्यापक रूप से भूमि सुधार लाने के लिए भूदान ही एक मात्र उपाय है। यह आंदोलन लोगों का हृदय परिवर्तित कर सामाजिक न्याय की प्रेरणा देता है। भूदान आंदोलन को सफल बनाने के लिए विनोबा ने गांधीवादी विचारों का अनुकरण करते हुए रचनात्मक कार्यक्रम और ट्रस्टीशिप जैसे विचारों का प्रयोग किया। उनके द्वारा सर्वोदय समाज की स्थापना की गई और यह रचनात्मक कार्यकर्ताओं का अखिल भारतीय संघ था। इसका मूल उद्देश्य अहिंसात्मक ढंग से देश में सामाजिक परिवर्तन के बीज का रोपण करना था।

18 अप्रैल 1951 को तेलंगाना क्षेत्र में पोचमपल्ली गाँव में विनोबा को जमीन का पहला दान मिला। यह भूदान आंदोलन का आरंभ था। इसके बाद वह गाँवगाँव घूमकर भूमिहीन लोगों के लिए भूमि का दान करने की मांग करने लगे और उन्होंने इस दान को महात्मा गांधी के अहिंसा के सिद्धांत से संबंधित कार्य बताया। विनोबा पदयात्राएं करते थे और घरघर जाकर बड़े भूस्वामियों से अपनी भूमि का कम से कम छठा भाग भूदान के रूप में भूमिहीन किसानों को देने हेतु अनुरोध करते थे। आंदोलन के आरंभ में ही पांच करोड़ एकड़ जमीन दान में हासिल करने का लक्ष्य रखा गया था। उस वक्त जयप्रकाश नारायण (, जो कि तत्कालीन प्रजा सोशलिस्ट पार्टी (PSP) के नेता थे) भी 1953 में भूदान आंदोलन में सम्मिलित हो गए थे। आंदोलन के शुरुआती दिनों में विनोबा ने तेलंगाना क्षेत्र के लगभग 200 गांवों की यात्रा की और उन्हें दान में 12,200 एकड़ भूमि प्राप्त हुई। इसके पश्चात यह आंदोलन उत्तर भारत में फैला और बिहारव उत्तर प्रदेश में इसका व्यापक प्रभाव परिलक्षित हुआ। अप्रैल 1954 के अंत तक 32 लाख एकड़ भूमि भूदान में दान की जा चुकी थी और इसमें से 20 लाख एकड़ भूमि व्यावहारिक रूप से अच्छी थी। भूदान करने वालों की संख्या 2,30,000 थी। 60,000 एकड़ भूमि 20,000 परिवारों में आवंटित की गई।

वर्ष 1957 को भूमि क्रांति वर्ष के रूप में माना जाता है। इस वर्ष तक आतेआते कुल 42 लाख एकड़ भूमि आंदोलन में दान की जा चुकी थी। वास्तव में यह भूदान एक बड़ी मात्रा में हुआ, परंतु यह अभी भी निर्धारित लक्ष्य से बहुत कम था। 1955 में आंदोलन ने एक नया स्वरूप अख़्तियार कर लिया और इसे 'ग्रामदान' के नाम से जाना जाने लगा। इसका आशय था 'सारी भूमि गोपाल की'। ग्रामदान वाले गांवों की सारी भूमि पर सामूहिक स्वामित्व माना गया। इसका आरंभ उड़ीसा से हुआ और इसे भी काफ़ी सफलता प्राप्त हुई।1960 तक देश में 4,500 से अधिक गावों को ग्रामदान आंदोलन के माध्यम से दान किया जा चुका था। इनमें से 1946 गांव उड़ीसा और 603 गाँव महाराष्ट्र के थे। इस आंदोलन की सफलता के बारे में कुछ विद्वान मानते हैं कि ग्रामदान वाले विचार उन्हीं स्थानों पर सफल हुए जहां वर्ग भेद उभरे नहीं थे और वह क्षेत्र आदिवासियों का ही था।

समय बीतने के साथ-साथ 60 के दशक तक भूदान और ग्रामदान आंदोलन कमज़ोर पड़ गया। 70 के दशक के अंत में भूदान में प्राप्त भूमि का केवल 30 प्रतिशत भाग ही वास्तव में भूमिहीनों को आवंटित हुआ और जिन भूमिहीनों को भूमि बांटी गई थी, उनमें से अधिकांश इसका लाभ नहीं ले पाए। इसके कई कारण थे और कहा जाता है कि यह आंदोलन अपने मूल उद्देश्य से भटक गया था, जिसके कारण यह असफल सिद्ध हुआ । परंतु यदि इस आंदोलन के दूसरे पक्ष पर विचार करें तो इसने बड़े पैमाने पर लोगों का हृदय परिवर्तित किया था। उस आंदोलन ने भूस्वामियों पर एक नैतिक दबाव अवश्य बना लिया था और उन्हें भूमिहीनों के प्रति सहयोग की भावना से निर्मित वातावरण में मिला लिया था।

हालांकि इस आंदोलन ने अपने स्तर पर भूमि संबंधी समस्याओं को रोकने के प्रयास में कोई कसर नहीं छोड़ी, परंतु फिर भी भूमिहीनों की समस्याओं और उनके वंचना के स्तर को पूरी तरह से प्रभावित कर पाने

में यह आंदोलन असफल रहा। इसी कारण समकालीन संदर्भ में भी नक्सलवादी आंदोलनों के प्रति उग्रवादी विचारधारा के लोगों का रुझान बना हुआ है।

3.4 नक्सलवाद का विस्तार

चारु मजूमदार, कान्हू सान्याल और मुजीबुर्रहमान के नेतृत्व में यह आंदोलन सशक्त विद्रोह के रूप में शुरू हुआ। इस आंदोलन में फसलों को काट लेना, भू-अपहरण, आगजनी, आतंक, हत्या, लूटमार आदि की घटनाएँ शामिल हैं। स्थानीय लोगों का सहयोग होने के कारण प्रशासन पूरी तरह से लाचार महसूस करने लगी थी। मात्र चार माह की अवस्था में ही किसान सभाओं के सदस्यों की संख्या4 लाख 50 हजार तक पहुँच गई। हालांकि कालांतर में पश्चिम बंगाल की संयुक्त मोर्चा सरकाउन्हें दबाने में सफल रही।

1964 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से अलग हुए एक भाग ने मार्क्सवादी लेनिनवादी समिति का गठन किया गया और इन्होंने नक्सली आंदोलन को नवीन तरीके से पुनर्स्थापित किया। पश्चिम बंगाल में उदित हुए इस आंदोलन का प्रभाव केरल, आंध्र प्रदेश और ओड़ीसा तक दिखा। सैकड़ों छात्रों ने इस आंदोलन में भाग लिया। 1969 में कलकत्ता में कान्हू सान्याल ने एक विशाल रैली के आयोजन के दौरान घोषणा-पत्र जारी किया। पश्चिम बंगाल के पश्चात केरल में नक्सलवादी घटनाएँ आरंभ हुई। आंदोलनकारियों द्वारा मालाबार के क्षेत्र को अल्बानिया बनाने के उद्देश्य से बनेड जिले के भीतरी प्रदेश का चयन किया। पालघाट के जंगलों में उग्रवादी कम्युनिस्टों को गुरिल्ला युद्ध का प्रशिक्षण प्रदान किया गया। इन उग्रवादियों का प्रमुख उद्देश्य पुलिस स्टेशन से शस्त्र प्राप्त करना और हिंसा के आधार पर भय पैदाकरना था। आंध्र प्रदेश में नक्सली आंदोलन नालगोंडा, खम्मान तथा श्री काकुलम के उन भागों में फैला, जहां 1948-50 के दौरान तेलंगाना आंदोलन हुए थे। श्री काकुलम नक्सली घटनाओं के मुख्य केंद्र के रूप में स्थापित हुआ। उग्रवादियों द्वारा अपनी गतिविधियों का विस्तार किया गया। बिहार के चंपारण, मुजफ्फरपुर, पूर्णिया, मुंगेर, सहरसा और संथाल परगना जिलों में भी नक्सलवादी गतिविधियों ने भय का माहौल बनाए रखा। इस समय कई अन्य स्थानों पर भी उग्रवादियों ने हिंसात्मक विद्रोह जारी रखा। चोरी, डकैती, हत्याएँ आदि घटनाएँ बड़े पैमाने पर घटित हुई।

यह आंदोलन अपने प्रारंभिक स्वरूप में काफ़ी प्रभावी और शक्ति संपन्न रहा।

3.5 नक्सली आंदोलन का प्रभाव क्षेत्र

जमींदारों के विरोध में भूमि संघर्ष के प्रयोजन से उभरे इस आंदोलन का समकालीन संदर्भ में वज़ूद बिल्कुल बदल चुका है अर्थात आज यह आंदोलन प्रत्यक्ष तौर पर सत्ता-संरचना के विरोध से संबंधित हो चुका है। नक्सलवादी गतिविधियों से संबंधित क्षेत्रों में कई राज्य शामिल हैं यथा- पश्चिम बंगाल, बिहार, कर्नाटक, ओड़ीसा, आंध्र प्रदेश, झारखंड, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, केरल, उत्तराखंड आदि राज्य। गृह मंत्रालय द्वारा जारी की गई एक विज्ञप्ति के अनुसार देश के कुल 13 राज्यों में 160 जिले नक्सली हिंसा से पूरी तरह प्रभावित हैं17 जिले आंदोलन की मार झेल रहे

हैं, 52 जिलों में आंदोलनकारियों का असर आंशिक रूप से है। इसके अलावा 21 अन्य जिलों पर नक्सलवादियों की नज़र है।

नक्सली हिंसा में संलग्न प्रमुख समूहों में पीपुल्स वार ग्रुप प्रमुख है। इसकी स्थापना सी.पी.आई. (एम.एल.) से निकले उग्रवादी नेता कोडापल्ली सीतारमैया द्वारा 1980 में की गई थी। हालांकि 1999 में सी.पी.आई. (एम.एल.) का यूनिटी पार्टी के साथ समन्वय हो गया, जिसके बाद से यह समूह ही पीपुल्स वार ग्रुप के नाम से विख्यात हो गया। यूनिटी पार्टी की स्थापना एन प्रसाद द्वारा 1978 में की गई थी और यह पार्टी महाराष्ट्र, छत्तीसगढ़, आंध्र प्रदेश, झारखंड, ओड़ीसा, बिहार, मध्य प्रदेश तक फैली हुई है। यह समूह भी हिंसक क्रियाओं में संलिप्त रहा है और इसने1200 से अधिक पेशेवर हिंसाएँ की हैं। 1984 में बिहार से इसे काफ़ी प्रसिद्धि मिली। पीपुल्स वार ग्रुप और एमसी.सी. के समन्वय से एक नए समूह की स्थापना की गई , जिसका नाम कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया माओवादी रखा गया। इस गुट कीसंयुक्त सेना को पीपुल्स लिब्रेशन गुरिल्ला आर्मी की संज्ञा प्रदान की गई। इन दोनों गुटों के एकजुट हो जाने के कारण नक्सल आंदोलन और भी मजबूत हो गया। इसके अलावा देश में कुल 20 छोटे बड़े नक्सली संगठन क्रियाशील हैं।

विकिपीडिया के आंकड़े के अनुसार पिछले 20 वर्षों में नक्सल हिंसा से हुई हत्याओं को निम्न सारणी के माध्यम से प्रस्तुत किया जा रहा है–

अवधि	सुरक्षा बल	विद्रोही	नागरिक	कुल
1989-2001	432	1007	1610	3049
2002	100	141	382	623
2003	105	216	410	731
2004	100	87	466	653
2005	153	225	524	902
2006	157	274	521	952
2007	236	141	460	837
2008	221	214	399	834

2009	317	217	586	1120
2010	285	171	713	1169
2011	128	199	275	602
2012	51	21	31	103
कुल	**2285**	**2913**	**6377**	**11575**

नक्सल देश की आंतरिक सुरक्षा और राष्ट्रीय एकता के लिए दिनोंदिन विकराल खतरा बनाता चला जा रहा है। नक्सलवादी संगठनों द्वारा अपनी सैन्य व्यवस्था पर अधिक ध्यान दिया जाता है। ये संगठन भटके हुए लोगों को अपने सैन्य संरचना में शामिल कर अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए सदैव तत्पर रहे। एक अनुमान के आधार पर नक्सलवादी संगठनों के पास लगभग 6500 नियमित हथियार हैं और इसके अलावा काफ़ी मात्रा में बिना लाइसेंस के हथियार हैं। साधारण तौर पर नक्सली लोगों का मुख्य शस्त्र जंगल से उनका परिचय, स्थानिय लोगों में घुल जाना और घात लगाने की कुशलता है।

3.6 नक्सलवाद: सामान्यीकृत निष्कर्ष

यदि सामान्यीकृत तौर पर नक्सलवाद के बारे में कहा जाए, तो समकालीन संदर्भ में इसका स्वरूप काफ़ी वीभत्स हो चुका है। वर्तमान समय में यह हिंसक गतिविधियों का स्वरूप बन चुका है। आज नक्सलवाद की समस्या इतनी विकराल हो चुकी है कि देश की आंतरिक सुरक्षा पर भी संकट मंडराने लगा है। यदि इसे ध्यानपूर्वक देखा जाए तो यह सामाजिक-आर्थिक फ़लक से उठकर राजनीतिक फलक की समस्या बन चुका है। यदि सरकारी तथ्यों के आलोक में कहा जाए तो हाल के ही दिनों में जम्मू कश्मीर की आतंकी हिंसक घटनाओं से भी अधिक लोग नक्सलवादी हिंसा में मारे गए हैं। नक्सली गतिविधियों में हजारों निर्दोष नागरिक और सुरक्षा बल के जवान मारे गए। 13 नवंबर 2005 को देश की सबसे बड़ी नक्सली घटना घटी, जिसमें माओवादियों ने बिहार के जहानाबाद में स्थानीय प्रशासन को अपने अधीन करके जेल में कैद कुल 389 कैदियों को आजाद करा लिया था। ऑपरेशन जेल ब्रेक नाम से विख्यात इस आंदोलन ने केंद्र और राज्य सरकार को झकझोर कर रख दिया।

यदि निष्कर्ष के तौर पर कहा जाए, तो नक्सलवादी संगठनों का साध्य तो ठीक कहा जा सकता है, परंतु उसे साधने के लिए जिन साधनों का प्रयोग किया जा रहा है वे अनुचित हैं। नक्सली समूहों को यह बात समझनी चाहिए कि हिंसात्मक गतिविधियों के आधार पर न्याय छिनना सही तरीका नहीं है। दरअसल नक्सलवादी संगठनों द्वारा हुई हिंसात्मक कार्रवाई से सबसे अधिक प्रभावित सामान्य नागरिक हुए हैं। जिस प्रयोजन की पूर्ति के लिए इस संगठन का निर्माण किया गया था, आज वे प्रयोजन प्रासंगिक नहीं रह

गए हैं। वहीं दूसरी ओर सरकारकी कानून व्यवस्था और दमनकारी नीति में भी कुछ खामियाँ निहित है। सत्ता-संरचना द्वारा प्रयास किया जाना चाहिए कि उन लोगों को समाज और राष्ट्र की मुख्य धारा से संबद्ध करने का भरसक प्रयास करना चाहिए, जिनके कल्याण हेतु संघर्ष का दावा आंदोलनकारी उग्रवादियों द्वारा किया जाता है। आर्थिक विषमता को दूर करके समता को बढ़ावा देना होगा, रोज़गार के अवसरों को बढ़ाना होगा तथा इसके अलावा राजनीतिक दलों के लिए एक आचार संहिता का निर्माण किया जाना चाहिए। सत्ता द्वारा इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कदम उठाने चाहिए और आत्मविश्वास के साथ इस समस्या से निजात पाने की कोशिश करनी चाहिए। सांप्रदायिक दलों पर प्रतिबंध लगाना चाहिए और बच्चों की शिक्षा संभवतः स्थानीय भाषा में दी जानी चाहिए। आगामी पीढ़ी को राष्ट्रीय एकता का संदेश दिया जाना चाहिए, जिससे कि वह एकता के मार्ग में नूतन प्रयासों को आधार दे सके।सरकारी और निजी प्रयासों के माध्यम से इन विघटनकारी और बाधक कारकों से निजात पाने का प्रयास करना चाहिए।

3.7 सारांश

इस इकाई के माध्यम से नक्सलवाद के बारे में विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। नक्सल आंदोलन सामंती भूमि व्यवस्था के विरोध और भूमिहीन किसानोंके पक्ष में सकारात्मक परिवर्तन की दिशा में आरंभ हुआ था, परंतु कालांतर में नक्सलवादी आंदोलन विचारधारा और नेतृत्व में परिवर्तन हो जाने के कारण यह आंदोलन अपनी वास्तविकता से भटक गया। इस आंदोलन की कुछ कमियाँ है, तो सत्ता द्वारा भी कुछ गलतियाँ की गई हैं। इस इकाई में नक्सलवाद के विस्तार, भूदान आंदोलन, नक्सली आंदोलन के प्रभाव क्षेत्र से संबंधित चर्चा प्रस्तुत की गई है।

3.8 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: नक्सलवाद क्या है? स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2:नक्सलवाद और इसके विस्तार को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3: भूदान आंदोलन के बारे मेंचर्चा कीजिए।

प्रश्न 4: नक्सलवादी आंदोलन के सामान्यीकृत निष्कर्ष को बताइए।

3.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

मिश्रा, एस.के. (2010). *नक्सलवाद.* नई दिल्ली: के.डब्ल्यू. पब्लिशर्स लिमिटेड

दुसाध एस.एल., त्रिशरण, व.क. एवं प्रियदर्शी, क. (2010). *नक्सलवाद के प्रतिकार का सर्वोत्तम उपाय,* नई दिल्ली: दुसाध प्रकाशन।

मुखर्जी, क. एवं यादव, र.स. (2013). *भोजपुरः बिहार में नक्सलवादी आंदोलन.* नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन

सिंह, र.क. (2009). *जनशक्ति: मध्य भारत में नक्सलवादी आंदोलन.* नई दिल्ली: नेहा पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स।

शाह, घ. (2009). *भारत में सामाजिक आंदोलन.* जयपुर: रावत पब्लिकेशन।

चक्रवर्ती, व. एवं पाण्डेय, र.क. (2012). *आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन* नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशन इंडिया प्राइवेट लिमिटेड।

ज्ञान शांति मैत्री

खंड - 4

समाज सुधार आंदोलन

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 1
समाज सुधार आंदोलन (स्वतंत्रता पूर्व)

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 औपनिवेशिक भारत में हुए समाज सुधार आंदोलन
1.3 ब्रह्म समाज
1.4 प्रार्थना समाज
1.5 सत्यशोधक समाज
1.6 आर्य समाज
1.7 रामकृष्ण मिशन
1.8 श्री नारायण गुरु धर्म परिपालन सभा
1.9 सारांश
1.10 बोध प्रश्न
1.11 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप –

- औपनिवेशिक भारत में हुए विभिन्न समाज सुधार आंदोलनों की जानकारी प्राप्तकर सकेंगे।
- इन आंदोलनों की भूमिका को रेखांकित कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

200 वर्षों के ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय समाज में अनेक बदलाव आए । फलस्वरूप समाज सुधारकों द्वारा आंदोलन चलाए गए। इस इकाई में स्वतन्त्रता से पूर्व या औपनिवेशिक भारत में चलाए गए समाज सुधार आंदोलनों के बारे में विवरण प्रस्तुत किया गया है। इनमें से प्रमुख समाज सुधारक आंदोलनों का उल्लेख इस इकाई के अंतर्गत किया गया है।

1.2 औपनिवेशिक भारत में हुए समाज सुधार आंदोलन

परंपरागत भारतीय समाज धर्म से नियंत्रित, निर्देशित और संचालित रहा है और उसके प्रत्येक पक्ष में धर्म की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। औपनिवेशिक शासन में भारतीय सामाजिक जीवन मेंअनेक कुरीतियों और

कुप्रथाओं के रूप में बुराईयाँ व्याप्त हो चुकी थीं। इन कुरीतियों के विरुद्ध ब्रिटिशकालीन नीतियों और पश्चिमी मूल्यों ने भारतीय समाज सुधारकों को सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक क्षेत्रों में विरोध करने हेतु प्रेरित किया और इसके परिणामस्वरूप आंदोलन हुए। कुछ प्रमुख समाज सुधार आंदोलन निम्न उल्लेखित हैं–

1. ब्रह्म समाज
2. प्रार्थना समाज
3. सत्यशोधक समाज
4. आर्य समाज
5. रामकृष्ण मिशन
6. श्री नारायण गुरु धर्म परिपालन सभा (SNDP)

1.3 ब्रह्म समाज

आधुनिक भारतीय पुनर्जागरण का जनक राजा राय मोहन राय को माना जाता है। ब्रह्म समाज की स्थापना 20 अगस्त 1828 में हुई थी और इसका शाब्दिक अर्थ है 'एक ईश्वर समाज'। हालांकि इस संस्था के मापदंड रूढ़िवादी हिंदुओं को रास नहीं आए,लेकिन फिर भी जन साधारण में इस समाज को अपनाया गया। राजा राम मोहन राय निरपेक्षवादी थे और उनकी प्रेरणास्रोत के रूप में ईसाई, इस्लाम धर्म और उपनिषद् थे। इस्लाम का अद्वैतवाद, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता में उनकी अगाध निष्ठा थी। उन्होंने सती प्रथा और बाल विवाह जैसी कुप्रथाओं और संस्थाओं का विरोध किया। वे महिलाओं के उत्थान हेतु सदैव तत्पर रहते थे। ब्रह्म समाज द्वारा उन्होंने विधवा पुनर्विवाह, तलाक, सिविल विवाह और स्त्रियों के शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए काम किया। ब्रह्म समाज के विशेष कार्यक्रमों में स्त्रियों के लिए संपत्ति हस्तांतरण और अंतरजातीय विवाह थे। उनका मानना था भारतीय समाज की कई कुप्रथाओं और समस्याओं का मूल जातिप्रथा में अंतर्निहित है और वे इस प्रथा का पुरजोर विरोध करते थे। ब्रह्म समाज बिना किसी भेदभाव के सभी लोगों के लिए मूर्ति पूजा के स्थान पर एक महान ईश्वर की सत्ता में विश्वास और उसी की पूजा करने की संस्था थी। राजा राम मोहन राय की मृत्यु केपश्चात देवेन्द्रनाथ टैगोर ने ब्रह्म समाज को एक स्थायी संगठनात्मक स्वरूप प्रदान किया और इसका प्रमुख कार्यक्रम ब्रह्म धर्म को बनाया। टैगोर ने राजा राम मोहन राय के काल की श्रेष्ठतम परंपराओं को बनाए रखा और उनका पालन किया।

1.4 प्रार्थना समाज

प्रार्थना समाज की स्थापना ब्रह्म समाज की एक प्रशाखा के रूप में 1867 में न्यायाधीश महादेव गोविंद रानाडे के नेतृत्व में हुई। इस समाज के अनुयायी स्वयं को हिंदू धर्म में ही एक आंदोलन के रूप में मानते थे। महाराष्ट्र के वैष्णव संप्रदाय की मान्यता में वे सच्चे ईश्वरवादी परंपरा को मानने वाले थे। वे तुकाराम, नामदेव, रामदास आदि संतों से प्रभावित थे। अंतरजातीय खान-पान और विवाह, विधवा

पुनर्विवाह, महिलाओं और पिछड़े तबकों की स्थिति में सुधार आदि प्रकार के उद्देश्य प्रार्थना समाज में निहित थे। निहित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु इस समाज ने निम्न संस्थाओं और संगठनकेो स्थापित किया–

1. विधवा आश्रम
2. रात्रि पाठशालाएँ
3. पंढ़रपुर में त्यक्त शिशु आश्रम और अनाथालय की स्थापना
4. दलित वर्ग मिशन

न्यायाधीश महादेव गोविंद रानाडे ने अपना संपूर्ण जीवन प्रार्थना समाज के लिए कार्य करते हुए व्यतीत किया। उन्होंने 1861 में विधवा विवाह संगठन और 1884-85 में दक्कन शिक्षा समाज की स्थापना में सहयोग किया।

1.5 सत्यशोधक समाज

सत्यशोधक समाज की स्थापना 1873 में ज्योतिराव गोविंदराव फुले द्वारा महाराष्ट्र में की गई थी। इसका शाब्दिक अर्थ है 'सत्य की खोज अथवा अन्वेषण करने वाला समाज'। इसके द्वारा समाज में विद्यमान कुरीतियों एवं शोषणकारी सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था के विरुद्ध जनसाधारण को जागृत करने का प्रयास किया गया। फुले द्वारा चलाया गया यह आंदोलन खुले तौर पर ब्राह्मणों के विरोध में था। तत्कालीन महाराष्ट्र में सामाजिक स्तरीकरण वर्णाश्रम-धर्म से नियंत्रित और संचलित था, जिसके अंतर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में असमान प्रस्थिति के वितरण से परिभाषित विभाजन किया गया था। इस स्तरीकरण ने अंधविश्वासों और कुरीतियों के जरिए समाज को शोषणकारी बना दिया था। इस समय महाराष्ट्र में 'कुनबी' और 'मराठा' दो समुदाय थे। इसमें से कुनबी लोग आर्थिक रूप से संपन्न थे, परंतु जाति व्यवस्था के संस्तरण में वे ब्राह्मणों के अधीन थे। ब्रिटिशकाल के दौरान ब्राह्मणों ने अंग्रेजी शिक्षा को अपना कर औपनिवेशिक शासन में भी अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर लिया। इस स्थिति ने गैर-ब्राह्मणों में चिंता और डर को उत्पन्न किया और साथ ही साथ पश्चिमी विचारधारा की आलोचना भी बुद्धिजीवियों द्वारा लगातार की जा रही थी। इन परिस्थितियों ने सत्यशोधक समाज की स्थापना को तूल देने का काम किया।

फुले ने लड़कियों के लिए एक स्कूल, हरिजनों के लिए एक स्कूल और विधवाओं के लिएएक अनाथालय की व्यवस्था की। फुले ब्राह्मणों और उनके कर्मकांडों के प्रति विरोधी रवैया अपनाते हैं। तर्क बुद्धिवादिता, समानता व मानवतावादी विचारों के आधार पर सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना का पुनर्निर्माण करना ही सत्यशोधक समाज का मूल प्रयोजन था। इन उद्देश्यों कीप्राप्ति के लिए समाज ने निम्न उद्देश्यों की नींव रखी–

- जनसाधारण को असमानता के लिए जागरूक करना और ब्राह्मणों के आधिपत्य का विरोध करना

- स्त्री-मुक्ति का प्रयास करना
- शिक्षा का प्रचार-प्रसार करना

1.6 आर्य समाज

आर्य समाज की स्थापना सन् 1875 में दयानंद सरस्वती द्वारा मुंबई में की गई । दयानंद सरस्वती का मानना है कि हिंदू धर्म इस्लाम और ईसाई धर्म से विभिन्न अर्थों में उच्च है। सन् 1920 में उन्होंने आर्य समाज में ही एक आंदोलन चलाया, जिसे शुद्धि आंदोलन के नाम से जाना जाता है। इस आंदोलन का सरोकार उन धर्मावलंबियों से था, जिन्होंने इस्लाम अथवा ईसाई धर्म अंगीकार कर लिया था। इस आंदोलन का सीधा उद्देश्य इस्लाम अथवा ईसाई धर्म ग्रहण किए हुए धर्मावलंम्बियों को पुनः हिंदू धर्म में वापस लाना था। वी.डी. सावरकर ने शुद्धि आंदोलन को राजनैतिक अस्त्र बनाते हुए कहा कि लोकतंत्र में शक्ति सदैव बहुसंख्यकों के पास होती है। अतः हिंदुओं को अपनी शक्ति में वृद्धि करने हेतु अपनी संख्या बढानी होगी।

लेकिन दयानंद सरस्वती के आर्य समाज को सतही तौर पर व्याख्यायित करना सही नहीं है। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति मूल रूप से वैदिक संस्कृति है। उन्होंने नारा दियाहै 'वेदों की ओर लौटो'। वे मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे और साथ ही साथ वे ब्राह्मणवाद को ही हिंदू समाज में व्याप्त कुरीतियों के लिए उत्तरदायी मानते हैं। आर्य समाज का मूल उद्देश्य भारतीय समाज में विद्यमान कुरीतियों और बुराइयों का सामना करते हुए भारतीय परंपरागत आदर्श हिंदू व्यवस्था को स्थापित करना था।इसके इतर भी कुछ महत्वपूर्ण बिंदुओं पर आर्य समाज का कार्यक्षेत्र फैला हुआ है-

1. बहु-ईश्वरवाद और मूर्ति पूजा का विरोध
2. वंशानुगत जाति व्यवस्था का उन्मूलन और वर्ण व्यवस्था को पुनः स्थापित करना
3. लिंग समानता और उच्च शिक्षा की ओर प्रेरित करना
4. प्राचीन हिंदू और आधुनिक शिक्षण प्रणाली को समन्वयपूर्ण रूप से पुनः स्थापित करना

आर्य समाज द्वारा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में निम्न प्रमुख कार्य किए गए हैं-

1. आर्य समान ने 'वेदों की ओर लौटो' का नारा देते हुए वैदिक संस्कृति कोपुनः स्थापित करने का प्रयास किया।
2. ब्राह्मणवाद के विरुद्ध जाति व्यवस्था में निहित विकृतियों और समस्याओं को दूर करने का प्रयास किया और समतामूलक समाज की कल्पना की।
3. स्त्रियों को वेद-अध्ययन और गायत्री मंत्रोच्चारण की अनुमति प्रदान की गई और बाल विवाह पर प्रतिबंध लगाने हेतु लड़कों की वैवाहिक आयु25 और लड़कियों की वैवाहिक आयु को 16 सुनिश्चित किया गया।
4. ब्रिटिश शासनकाल में हिंदू धर्मांतरण पर अंकुश लगाया।

5. पंजाब में विधवा पुनर्विवाह संपन्न कराया गया और स्त्रियों को शिक्षा प्रदान की गई।
6. हरिद्वार में गुरुकुल को स्थापित करके परंपरागत शिक्षा को प्रेरित किया गया और साथ ही साथ DAV की स्थापना करके अंग्रेज़ी शिक्षा को भी महत्व दिया गया।
7. अनाथालय, विधवा आश्रम की व्यवस्था की गई और तथा बाढ़ व सूखे से ग्रस्त लोगों की सहायता के रूप में कल्याणकारी कार्य किए गए।

1.7 रामकृष्ण मिशन

ब्रिटिशकाल में भारतीय धर्म और संस्कृति पतनोन्मुखी होती चली जा रही थी। ईसाई धर्म के अनुयायी अंग्रेज अपने धर्म और संस्कृति को श्रेष्ठ स्थापित करने पर तुले हुए थे और भारतीय अपनी संस्कृति और धर्म की अस्मिता को बनाए रखने में लगे हुए थे। परिणाम यह हुआ कि लोगों ने खुलकर पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता का विरोध करना प्रारंभ कर दिया परंतु ठीक इसी समय एक दूसरा मत यह था कि किसी संस्कृति अथवा धर्म को अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता, अपितु उनमें समन्वय को महत्व दिया जाना चाहिए। यह मुद्दा रामकृष्ण मिशन द्वारा प्रस्तुत किया गया था। रामकृष्ण मिशन की स्थापना सन् 1897 में स्वामी विवेकानंद द्वारा की गई। इसका मुख्यालय कोलकाता के वेल्लुर के पास अवस्थित है। रामकृष्ण मिशन प्राचीन भारतीय संस्कृति और आधुनिक संस्कृति के समन्वय का मूर्त स्वरूप है जिसके प्रवर्तक रामकृष्ण परमहंस थे।

रामकृष्ण कोलकाता के दक्षिणेश्वर में एक मंदिर के निर्धन पुजारी थे। वे सभी धर्मों में विश्वास रखते थे और उनका कहना था कि एक ही लक्ष्य की प्राप्ति दिशा की ओर उन्मुख होने के लिए कई मार्ग और मत हैं। एकेश्वर और बहु-ईश्वर दोनों मत को वे बराबर तवज्जो देते हैं। वह साकार भी है और निराकार भी। यही रामकृष्ण मिशन का सार भी है। इसका मौलिक उद्देश्य आत्मा की मुक्ति, मानवता की सेवा और सभी धर्मों के बीच सौहार्द स्थापित करके बेहतर समाज की कल्पना करना था। चूंकि यह मिशन वेदांत दर्शन के आधार पर सनातन धर्म को नई दिशा देना चाहता था, इसलिए उसने आंतरिक आध्यात्मिक जीवन के आधार पर मानवीय सेवा के लिए सामूहिक प्रयत्नों और सभी बालकों व स्त्रियों को ईश्वर की संतान मानते हुए बिना किसी जाति, रंग-भेद के उनके लिए शिक्षा और स्वस्थ मानवीय जीवन की व्यवस्था करने का संकल्प लिया।

रामकृष्ण मिशन को बेहतर तरीके से समझने के लिए उसके उद्देश्यों को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

- आत्म त्याग और व्यावहारिक आध्यात्मिकता के साथ जीवन व्यतीत करने के लिए साधुओं की एक टोली की व्यवस्था करना, जिसमें से उपदेशकों और कार्यकर्ताओं को रामकृष्ण के जीवन में परिलक्षित वेदांत दर्शन के प्रचार-प्रसार के लिए अन्य स्थानों की ओर भेजना।

- आत्म अनुयायियों के समर्थन के साथ सभी स्त्रियों और बालकों को समान रूप से महत्व देते हुए बिना किसी भेदभाव के उनके लिए शिक्षा, दयायुक्त और मानवीय कार्यों को संपन्न करना है।

यह एक बहुद्देशीय संस्था थी, जिसने निम्न कार्यों को अंजाम दिया–

1. स्कूल, कॉलेज, पुस्तकालय व वाचनालयों की व्यवस्था की गई तथा सस्ते दामों पर स्वप्रकाशन से साहित्य मुहैया कराये गए।
2. चिकित्सा, अस्पताल, मुफ्त क्षय रोग क्लीनिक, निदान केंद्र, मुफ्त होम्यो डिस्पेन्सरी तथा विकलांग केंद्र खोले गए।
3. सूखे व बाढ़ आदि आपदाओं में राहत कार्य किए गए।
4. ग्रामीण उत्थान एवं सभी वर्गों के श्रमजीवी लोगों के लिए कल्याणकारी कदम उठाए गए।

1.8 श्री नारायण गुरु धर्म परिपालन सभा

इस आंदोलन का आरंभ केरल के नारायण गुरु स्वामी द्वारा किया गया है। श्री नारायण गुरु धर्म परिपालन सभा एक क्षेत्रीय सुधार आंदोलन था, जो केरल की इजावा/इझाबा जाति (, जो कि एक अनुसूचित जाति है) द्वारा सामाजिक-सांस्कृतिक कुव्यवस्था के विरोध में चलाया गया था। यद्यपि ये हमेशा से संख्यात्मक स्थिति में अधिक रहे हैं, परंतु फिर भी क्षेत्रीय राजाओं द्वारा उनका शोषण किया गया केरल की तत्कालीन समाज में इझाबा जाति की कुल जनसंख्या 26% थी और उनका पेशा ताड़ के पेड़ से ताड़ी निकालना था तथा यही उनके जीवनयापन के लिए साधन के रूप में था। यह जाति अस्पृश्य थी और जाति व्यवस्था में शोषणकारी प्रथाओं का शिकार थी। इनके मंदिरों स्कूलों में प्रवेश पर प्रतिबंध लगाया गया था और साथ ही साथ सड़क के उपयोग को भी वर्जित किया गया था। तत्कालीन ब्रिटिश भारत के अन्य क्षेत्रों में आधुनिक पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित होकर इस अन्यायपूर्ण शोषण के विरोध में कई आंदोलन (आर्य समाज, सत्यशोधक समाज) चलाये जा रहे थे। इन्हीं आंदोलनों से प्रेरणा पाकर श्री नारायण गुरु धर्म परिपालन ने केरल में समतमूलक और शोषणमुक्त समाज की संकल्पना लेकर एक आंदोलन क्रियान्वित किया। नारायण स्वामी ने उच्च-निम्न के संस्तरण और उससे उत्पन्न भेदभाव की भावना के उन्मूलन हेतु कुछ मुद्दों को निर्धारितकिया–

- ईझावा अर्थात् निम्न जातियों को पब्लिक स्कूल में प्रवेश का अधिकार
- इन वर्गों का सरकारी सेवा में प्रवेश होना चाहिए।
- इन्हें मंदिर में दर्शन हेतु जाने की स्वतंत्रता होनी चाहिए,आदि।

इस आंदोलन ने कतिपय लक्ष्यों पर अपने कार्यक्षेत्र को निर्धारित किया–

1. जाति व्यवस्था में अपनी प्रतिष्ठा में ऊँची जातियों की जीवनशैली, उच्च शिक्षा, प्रतिष्ठित नौकरी आदि को अपनाकर अपने जीवन स्तर को ऊर्ध्वाधर गतिशील बनाना।

2. खासकर ब्राह्मणों और अन्य जातियों के वर्चस्व को चुनौती देना और उनकी अधीनता को अस्वीकार करना।
3. जातीय निर्योग्यताओं का बहिष्कार करना।

उपरोक्त उद्देश्यों को केंद्र में रखकर कुछ कार्यक्रम चलाये गए–

- पब्लिक स्कूल में दलितों के प्रवेश का अधिकार दिलाने की कोशिश की गई।
- दलितों को सड़क पर बिना किसी रोक-टोक चलाने की स्वतंत्रता हेतु मांग की गई।
- दलितों को राजनीतिक प्रतिनिधित्व के लिए आरक्षण व्यवस्था की मांग की गई।

1.9 सारांश

उपर्युक्त वर्णित आंदोलनों के मूल में समता और नैतिक मानवीय व्यवहार मूल में परिलक्षित होते हैं। ये आंदोलन समाज को नई और व्यवस्थित दिशा में अग्रसारित करते हैं और साथ ही साथ एक ऐसे समाज की कल्पना को भी यथार्थ के सन्निकट ले जाने में मदद करते हैं, जिसमें सभी जातियों, धर्म, वर्ण आदि में समानता का भाव विद्यमान हो और भेदभाव संबंधी विचारों का उन्मूलन हो चुका हो। वह समाज प्रेम, सहयोग और सौहार्द से संचालित हो।

1.10 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: आर्य समाज को विश्लेषित कीजिए।

प्रश्न 2: ब्रह्म समाज के विचारों पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 3: रामकृष्ण मिशन की स्थापना हेतु उत्तरदायी कारकों पर प्रकाश डालिए और इस आंदोलन को भी स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 4: श्री नारायण गुरु धर्म परिपालन सभा क्या है और इसकी पूरी यात्रा की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 5: टिप्पणी कीजिए

1. ब्रह्म समाज
2. प्रार्थना समाज

1.11 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

प्रसाद, ग. (2007). *आधुनिक समाज की समस्याएँ* नई दिल्ली: डिस्कवरी पब्लिशिंग हाऊस

शम्भूनाथ. (2004). *सामाजिक क्रांति के दस्तावेज (भाग-1).* नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन

शम्भूनाथ. (2005). *सामाजिक क्रांति के दस्तावेज (भाग-2).* नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन

शर्मा, के.एल. (2006). *भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन* जयपुर: रावत पब्लिकेशन

सिंह, श.भ. (2012). *भारतीय समाज की आधारभूत संरचना.* दिल्ली: डिंपल कम्प्यूटर्स

इकाई 2
समाज सुधार आंदोलन (स्वतंत्रता पश्चात)

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 स्वतंत्र भारत में हुए प्रमुख समाज सुधार आंदोलन
2.3 भूदान और ग्रामदान आंदोलन
2.4 नक्सलवाड़ी आंदोलन
2.5 संपूर्ण क्रांति आंदोलन
2.6 शाहबानो प्रकरण
2.7 सती विरोधी आंदोलन
2.8 सारांश
2.9 बोध प्रश्न
2.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के पश्चात आप –

- स्वतंत्र भारत में हुए विभिन्न समाज सुधार आंदोलनों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- इन आंदोलनों के प्रभावों को विश्लेषित कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

औपनिवेशिक भारत में अनेक प्रकार के समाज सुधार आंदोलन हुए जिनकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है। इस इकाई के अंतर्गत स्वतंत्र भारत में किए गए प्रमुख समाज सुधार आंदोलनों को शामिल किया गया है। इन आंदोलनों ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से समाज को प्रभावित किया है।

2.2 स्वतंत्र भारत में हुए प्रमुख समाजसुधार आंदोलन

परिवर्तन संसार का शाश्वत नियम है और समाज भी इससे अछूता नहीं है। परिवर्तन होने से कई व्यवस्थाएँ चरमरा जाती हैं और उनमें परिवर्तन हो जाता है, परंतु मनुष्य द्वारा भौतिक वस्तुओं की तुलना में अपनी परम्पराओं और मूल्यों को परिवर्तित कर पाने में समयलगता है। इस कुसमायोजन की स्थिति के कारण असंतोष व्याप्त हो जाते हैं। इस असंतोष की परिणति के रूप में आंदोलन क्रियान्वित होते हैं।आजाद भारत में हुए प्रमुख समाज सुधार आंदोलन निम्न हैं-

❖ भूदान और ग्रामदान आंदोलन

- ❖ नक्सलवादी आंदोलन
- ❖ संपूर्ण क्रांति आंदोलन
- ❖ शाहबानो प्रकरण
- ❖ सती विरोधी आंदोलन

2.3 भूदान और ग्रामदान आंदोलन

आचार्य विनोबा भावे द्वारा 1951 में इस आंदोलन को चलाया गया था। उनकी कोशिश यह थी कि भूमि का पुनर्वितरण सिर्फ कानूनी माध्यम से न हो, अपितु एक सामाजिक आंदोलन के माध्यम से इसके लिए सफल कोशिश की जाए। आचार्य का मानना था कि भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में व्यापक रूप से भूमि सुधार लाने के लिए भूदान ही एक मात्र उपाय है। यह आंदोलन लोगों का हृदय परिवर्तित कर सामाजिक न्याय की प्रेरणा देता है। भूदान आंदोलन को सफल बनाने के लिए विनोबा ने गाँधीवादी विचारों का अनुकरण करते हुए रचनात्मक कार्यक्रम और ट्रस्टीशिप जैसे विचारों का प्रयोग किया। उनके द्वारा सर्वोदय समाज की स्थापना की गई और यह रचनात्मक कार्यकर्ताओं का अखिल भारतीय संघ था। इसका मूल उद्देश्य अहिंसात्मक ढंग से देश में सामाजिक परिवर्तन के बीज का रोपण करना था।

18 अप्रैल 1951 को तेलंगाना क्षेत्र में पोचमपल्ली गाँव में विनोबा को जमीन का पहला दान मिला। यह भूदान आंदोलन का आरंभ था। इसके बाद वह गाँवगाँव घूमकर भूमिहीन लोगों के लिए भूमि का दान करने की मांग करने लगे और उन्होंने इस दान को महात्मा गांधी के अहिंसा के सिद्धांत से संबंधित कार्य बताया। विनोबा पदयात्राएं करते थे और घरघर जाकर बड़े भूस्वामियों से अपनी भूमि का कम से कम छठा भाग भूदान के रूप में भूमिहीन किसानों को देने हेतु अनुरोध करते थे। आंदोलन के आरंभ में ही पांच करोड़ एकड़ जमीन दान में हासिल करने का लक्ष्य रखा गया था। उस वक्त जयप्रकाश नारायण (, जो कि तत्कालीन प्रजा सोशलिस्ट पार्टी (PSP) के नेता थे) भी 1953 में भूदान आंदोलन में सम्मिलित हो गए थे। आंदोलन के शुरुआती दिनों में विनोबा ने तेलंगाना क्षेत्र के लगभग200 गांवों की यात्रा की और उन्हें दान में 12,200 एकड़ भूमि प्राप्त हुई। इसके पश्चात यह आंदोलन उत्तर भारत में फैला और बिहारव उत्तर प्रदेश में इसका व्यापक प्रभाव परिलक्षित हुआ। अप्रैल 1954 के अंत तक32 लाख एकड़ भूमि भूदान में दान की जा चुकी थी और इसमें से 20 लाख एकड़ भूमि व्यावहारिक रूप से अच्छी थी। भूदान करने वालों की संख्या 2,30,000 थी, 60,000 एकड़ भूमि 20,000 परिवारों में आवंटित की गई।

वर्ष 1957 को भूमि क्रांति वर्ष के रूप में माना जाता है। इस वर्ष तक आतेआते कुल 42 लाख एकड़ भूमि आंदोलन में दान की जा चुकी थी। वास्तव में यह भूदान एक बड़ी मात्रा में हुआपरंतु यह अभी भी निर्धारित लक्ष्य से बहुत कम था। 1955 में आंदोलन ने एक नया स्वरूप अख़्तियार कर लिया और इसे 'ग्रामदान' के नाम से जाना जाने लगा। इसका आशय था 'सारी भूमि गोपाल की'। ग्रामदान वाले गाँवों की सारी भूमि पर सामूहिक स्वामित्व माना गया। इसका आरंभ उड़ीसा से हुआ और इसे भी काफ़ी

सफलता प्राप्त हुई। 1960 तक देश में 4,500 से अधिक गावों को ग्रामदान आंदोलन के माध्यम से दान किया जा चुका था। इनमें से 1946 गांव उड़ीसा और 603 गाँव महाराष्ट्र के थे। विशिष्ट स्तरों पर इस आंदोलन की सफलता के बारे में कुछ विद्वान मानते हैं कि ग्रामदान वाले क्विार उन्हीं स्थानों पर सफल हुए जहाँ वर्ग भेद उभरे नहीं थे और वह क्षेत्र आदिवासियों का ही था।

समय बीतने के साथ-साथ 60 के दशक तक भूदान और ग्रामदान आंदोलन कमज़ोर पड़ गया। 70 के दशक के अंत में भूदान में प्राप्त भूमि का केवल30 प्रतिशत भाग ही वास्तव में भूमिहीनों को आबंटित हुआ और जिन भूमिहीनों को भूमि आवंटित गई थी, उनमें से अधिकांश इसका लाभ नहीं ले पाए। इसके कई कारण थे और कहा जाता है कि यह आंदोलन अपने मूल उद्देश्य से भटक गया था, जिसके कारण यह असफल सिद्ध होता है, परंतु यदि इस आंदोलन के दूसरे पक्ष पर विचार करें तोइसने बड़े पैमाने पर लोगों का हृदय परिवर्तित किया था। उस आंदोलन ने भूस्वामियों पर एक नैतिक दबाव अवश्य बना लिया था और उन्हें भूमिहीनों के प्रति सहयोग की भावना से निर्मित वातावरण में मिला लिया था।

2.4 नक्सलवाड़ी आंदोलन

पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग के नक्सलवाड़ी गाँव के स्थानीय निवासियों की भूमि संबंधित शोषणकारी व्यवस्था से व्याप्त असंतोष के परिणामस्वरूप यह आंदोलन1967 में आरंभ हुआ। कान्हू सान्याल और पंचानन सरकार के नेतृत्व में इस आंदोलन ने कई अन्य क्षेत्रों में भी प्रसिद्धि प्राप्त की। यह आंदोलन प्रमुख रूप से मार्क्सवादी, लेनिनवादी और माओवादी विचारधारा से प्रभावित रहा है और यह व्यवस्था में अमूलचूल परिवर्तन को महत्व देता है। 1947-67 के बीच पश्चिमी बंगाल की भूमि पर जोतदारी-अधियारी पद्धति का प्रचलन था। यहाँ की अधिकांश भूमि पर बड़े जमीदारों का आधिपत्य स्थापित था और वे भूमिहीनों को कृषि हेतु भूमि देते थे। भूमिहीन मजदूर अथवा अधियार/जोतदार उस भूमि पर कृषि कार्य करते थे और बदले में जमीदारों को भूमि पर उपजे अनाज का आधा भाग देते थे। साथ-ही-साथ अधियारों को अपने ही आधे हिस्से में बीज प्रयोग और पशुधन आदि में खर्च वहन करने हेतु जमीदारों को चुकाने पड़ते थे। अर्थात् कुल मिलकर जोतदारों को भूमि पर उपजे अनाज का1/4 या 1/5 हिस्सा ही प्राप्त हो पाता था। भूमि और कृषि संबंधों में शोषण अपने चरमोत्कर्ष पर था। अधियार उपज के इतने कम भाग से अपना और अपने परिवार का भरण पोषण कर पाना उनके लिए धीरे-धीरे दुष्कर होता चला गया। जीवन निर्वाह के लिए उन्हें ऊँचे ब्याज पर ऋण लेना पड़ता था और उस ऋण के भुगतान हेतु उन्हें अत्यधिक श्रम और बेगार भी करना पड़ता था। इन विकृत परिस्थितियों के परिणामस्वरूप अधियारों की आर्थिक-सामाजिक स्थिति लगातार बिगड़ती चली गई और भूमि के समुचित संरक्षण न हो पाने के कारण उन्हें या तो जमीदारों द्वारा भूमि पर कृषि से बेदखल कर दिया गया अथवा उन्हें कममज़दूरीपर श्रम को बेचना पड़ा और उनके ऋण का बोझ दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया।

आजाद भारत में जमीदारी उन्मूलन को वैधानिक अस्तित्व प्राप्त हुआ और उसे समाप्तभी कर दिया गया, परंतु उन्मूलन के पश्चात भी यह शोषण की कुव्यवस्था समाप्त नहीं होती, वरन इसकी ऊपरी संरचना में

केवल हेर-फेर होता है। अब भूमि पर जमीदारों के स्थान पर बड़े जोतदारों का शासन लागू हो गया। भूस्वामियों ने भूमि पर अपना आधिपत्य बनाए रखा। कुछ भूमियोंको अपने नाम पर, तो कुछ को अपने परिवार के अन्य सदस्यों के नाम पर, तो कुछ को अपने संबंधियों के नाम पर हस्तांतरित करके अपना आधिपत्य जमाए रखा। अर्थात् जमींदारी उन्मूलन के पश्चात भी पूर्व की शोषण प्रणाली विद्यमान रही। तत्कालीन समय में औद्योगिक विकास की दर धीमी होने के कारण स्थानीय लोगों को वैकल्पिक रोज़गार भी उपलब्ध नहीं हो पाए। इन जटिल परिस्थितियों और दोषपूर्ण प्रणाली के कारण स्थानीय लोगों के मध्य रोष और असंतोष की भावना उत्पन्न हो गई। इन परिस्थितियों से उपजे क्षोभ ने आंदोलन की पृष्ठभूमि को तैयार किया।

नक्सलवाड़ी आंदोलन का मुख्य उद्देश्य एक शोषणविहीन, समतामूलक समाज को स्थापित करना था, जिसमें सभी के पास भूमि पर आधिपत्य हो और वे अपने जीवन निर्वाह की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा कर सके। मार्क्सवादी, लेनिनवादी और माओवादी विचारधारा से प्रेरित होने के कारण गुरिल्ला युद्ध द्वारा सत्ता पर आधिपत्य और व्यवस्था में पूर्ण रूप से परिवर्तन लाने का प्रयास इसके मूल में निहित था। यह आंदोलन आरंभ में कान्हू सान्याल के नेतृत्व में निश्चित रणनीति के तहत कार्य कर रहा था, जिसमें काटकर लाए गए अनाज को इकट्ठा कर उस पर लाल झण्डा गाड़ देना, फसलों की रक्षा हेतु शस्त्र का उपयोग करना, पुलिस से अपने अनाजों की सुरक्षा करना आदि सम्मिलित था। आगे चलकर यह आंदोलन चारु मजूमदार के निर्देशन में संचालित हुआ,जिसमें उक्त प्रशिक्षण प्राप्त कैडरों को गुरिल्ला युद्ध पद्धति से नई रणनीति को अपनाकर व्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन की ओर रुख किया गया।

अधियारी व्यवस्था के विरोध में नक्सलवाड़ी क्षेत्र में किसान सभा (साम्यवादियों द्वारा समर्थित समाज) द्वारा विस्तृत प्रयत्न किए गए, परंतु इसका कोई व्यावहारिक लाभ नहीं मिल पाया। इस प्रयास से यह तो स्पष्ट हो चुका था कि कानून की चहारदीवारी में रहकर इस शोषणयुक्त व्यवस्था से निजात पाना संभव नहीं है। इसके बाद आंदोलन ने क्रांतिकारी रूप धारण किया और अवैधानिक तरीके से शोषण के विरूद्ध संघर्ष प्रारंभ किया। नक्सलवाड़ी किसान सभा की बैठक में कान्हू सान्याल ने जोतदारों की सभी उपज को हथियाने की घोषणा की। यह आंदोलन तब शुरू हुआ, जब नृपेन्द्र घोष, विरेन घोष, जतीन घोष आदि जैसे नेताओं के साथ कई अधियारों ने नक्सलवाड़ी गाँव के भगवान दयाल सिंह की भूमि पर उपजे अनाज को अपनी मांग के रूप में अभिव्यक्त किया और अधियारों को अनाज को अपने घर ले जाने का निर्देश दिया। तत्कालीन आंदोलन की प्रमुख मांगें थीं-

- ❖ व्यावहारिक तौर पर जमींदारी व्यवस्था का उन्मूलन
- ❖ भूमि को जोतने वाले अधियारों का जोत पर आधिपत्य

आगे चलकर आंदोलन ने क्रांतिकारी रूप ग्रहण कर लिया और पुलिस की दमनात्मक कार्यवाही के परिणामस्वरूप कान्हू सान्याल और तात्कालिक कई बड़े नेताओं को कैद कर लिया गया। इससे आंदोलन

को एक गहरा आघात लगा, परंतु शीघ्र ही चारु मजूमदार जैसे नेता की उपस्थिति से आंदोलन पुनः क्रियाशील हो गया। चारु मजूमदार का मानना था कि शोषण के तत्व इस सामंतवादी प्रणाली में ही निहित हैं, अतः शोषण को समाप्त करने के लिए इस सामंती व्यवस्था की संरचना को परिवर्तित करना होगा। इसके लिए उन्होंने गुरिल्ला युद्ध पद्धति को अपनाकर अधियारों को इस आंदोलन में सम्मिलित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि गुप्त रूप से हत्याएँ होनी प्रारंभ हो गईं बंदूकें छीनी जाने लगीं और इस आंदोलन ने वीभत्स रूप धारण कर लिया। अब यह आंदोलन पूरी तरह से भूमिगत हो गया।

इस आंदोलन की उपलब्धियाँ निम्न हैं–

- ❖ कृषक वर्ग अपने विरुद्ध क्रियाशील शोषणयुक्त प्रणाली के प्रति सचेत हुए और अपने हित के लिए संगठित हुए।
- ❖ भूमिहीन कृषकों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हुई।
- ❖ सरकार और अन्य लोकतांत्रिक संगठनों द्वारा भूमिहीन कृषकों की व्यवस्था में सुधार हेतु अनेक प्रयास किए गए।
- ❖ इस आंदोलन ने संसदीय वामपंथियों की राजनैतिक असफलता को प्रकट किया, जिसने साम्यवादियों को पुनर्विचार हेतु प्रेरित किया।
- ❖ इस आंदोलन के प्रभाव स्वरूप अनेक कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों द्वारा सत्ता पर राजनीतिक आधिपत्य प्राप्त करने के लिए संगठित संघर्ष हुए, जिसने सत्तारूढ़ वामपंथियों को चुनौती दी।

2.5 संपूर्ण क्रांति आंदोलन

"संपूर्ण क्रांति से आशय समाज के सबसे अधिक दबेकुचले व्यक्ति को सत्ता के शिखर पर देखने से है।"

– जयप्रकाश नारायण

यह आंदोलन जयप्रकाश नारायण द्वारा 1974 में बिहार में भ्रष्टाचार और कुशासन के विरुद्ध चलाया गया था। बाद में इस आंदोलन ने तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी विरोधी रूप धारण कर लिया। इसे जेपी आंदोलन और बिहार आंदोलन के नाम से भी जाना जाता है। सात क्रतियों (सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, बौद्धिक व शैक्षणिक) को मिलाकर संपूर्ण क्रांति का उद्बोधन किया था। पटना के गांधी मैदान में जयप्रकाश नारायण ने संपूर्ण क्रांति का शंखनाद किया था और परिणामस्वरूप मैदान में विद्यमान लाखों लोगों ने जाति, दहेज, भेदभाव आदि कुरीतियों से विमुख होने का संकल्प लिया। इसी मैदान में हजारों जनेऊ तोड़े गए। उनका नारा था–

जात-पात तोड़ दो, तिलक-दहेज छोड़ दो।
समाज के प्रवाह को नई दिशा में मोड़ दो।।

यह क्रांति इतनी प्रबल वेग में थी कि इसके परिणामस्वरूप कांग्रेस सरकार की सत्ता छिन गई। जेपी के नाम से लोकप्रिय जयप्रकाश नारायण घर-घर में क्रांति का पर्याय बन चुके थे।

5 जून 1974 को गांधी मैदान की विशाल सभा में जयप्रकाश नारायण ने संपूर्ण क्रांति का आह्वान किया। बड़े जनसमूह को संबोधित करते हुए जयप्रकाश नारायण ने मूलरूप से कुछ मुद्दे रेखांकित कर प्रस्तुत किए। ये मुद्दे प्रशासनिक भ्रष्टाचार, महंगाई, बेरोज़गारी, देश की गिरती हालत, उपयोगरहित शिक्षा पद्धति से संबंधित थे और इन समस्याओं से उबरने के लिए पूरी संरचनागत व्यवस्था में परिवर्तन करने की आवश्यकता है, जिसके लिए संपूर्ण क्रांतिही एकमात्र हथियार है। जयप्रकाश नारायण का कथन है,

"यह क्रांति है मित्रों! और संपूर्ण क्रांति है। विधान सभा का विघटन ही मात्र इसका प्रयोजन नहीं है। यह तो महज मील का पत्थर है। हमारी मंजिल तो बहुत दूर है और हमें अभी बहुत दूर तक जाना है।

जयप्रकाश नारायण के सम्पूर्ण क्रांति का प्रयोजन स्पष्ट तौर पर राजनीतिक तथा आर्थिक शक्तियों के केंद्रीकरण को समाप्त कर जनता के हाथों में शक्ति का विकेंद्रीकरण करके पुनर्स्थापना करना था। वे निर्वाचन प्रणाली में सुधार चाहते थे, जिससे लोग भ्रष्टाचारहीन तरीके से स्वतंत्र चेतना के अनुकूल होकर मतदान करें और इससे सत्ताधारी द्वारा शक्ति पर आधिपत्य स्थापित करने की संभावनाएं सीमित हो जाएगी। उन्होने लोगों को तत्कालीन कांग्रेस सरकार की सर्वसत्तावादी और गलत नीतियों व कार्यक्रमों का धैर्यपूर्वक विरोध करने हेतु प्रेरित किया। यद्यपि इस आंदोलन नेबिहार में खासकर 1974 में विशाल छात्र आंदोलन को उत्पन्न किया, तथापि कई मामलों में इस आंदोलन ने दुविधापूर्ण स्थिति भी उत्पन्न की। बहुत से लोगों को यह लगा कि यह आंदोलन राज्य की शक्ति को जनता के अधीन करने पर जोर दे रहा है। जयप्रकाश नारायण के अनुरोध के बावजूदयह आंदोलन कुछ मामलों में हिंसक प्रवृत्ति को छिपा नहीं पाया।

2.6 शाहबानो प्रकरण

यद्यपि औपनिवेशिक भारत में अनेक आंदोलन हुए और अनेक सुधारक भी हुए जिन्होंने समाज में अप्रत्याशित तौर पर परिवर्तन किए हैं, तथापि नारीवादी आंदोलनों के हित का कुछ-न-कुछ अछूता ही रह गया। शाहबानो का मामला उसी प्रकार का एक आंदोलन है, जो काफी विवादास्पद है। 1985 में घटित इस पर्सनल लॉ के मामले को 'शाहबानो केस' के रूप में जाना जाता है। 23 अप्रैल को उच्चतम न्यायालय की मुख्य न्यायाधीश चंद्रचूड़ के नेतृत्व में पाँच सदस्यीय पीठ ने यह पाया किशाहबानो (75 वर्ष) धारा 125 के तहत अपने पति से गुजारा भत्ता प्राप्त करने की हकदार हैं। शाहबानो के पति मोहम्मद अहमद खान ने उन्हें विवाह की लगभग आधी शताब्दी गुजर जाने के बाद तलाक दे दिया। दस वर्ष पूर्व अपने पति द्वारा दबाव दिए जाने के कारण उन्हें अपने बच्चों के साथ एक दालान में निवास करने हेतु विवश होना पड़ा। इस घटना के दो वर्ष बाद तक शाहबानो के पति ने उसे 200 रुपये का मासिक भुगतान दिया, परंतु एक दिन अनायास ही भत्ता देने से इनकार कर दिया। 1978 में शाहबानो ने इंदौर के मजिस्ट्रेट के यहाँ धारा 125 के अंतर्गत प्रार्थना-पत्र दिया और गुजारा भत्ता प्राप्त करने हेतु अधिकतम राशि(, जो कि 500 है) की अपील की। शाहबानो की याचिका अभी लंबित ही थी कि उनके पति ने कुरान के मुताबिक तीन बार तलाक कहकर तलाक लेने का फैसला कर लिया और न्यायालय में मेहर की राशि

3000 रुपये भी जमा करा दिये। मजिस्ट्रेट ने माना कि वो भत्ते कि हकदार हैं और उसने 25 रुपये प्रति माह की रकम को भत्ते के रूप में निश्चित किया। इसके बाद शाहबानो ने मध्यप्रदेश के उच्च न्यायालय में अपील की, जिसने यह राशि बढ़ाकर 179.20 रुपये कर दी।

इसके बाद अहमद खान उच्चतम न्यायालय गए और अपील की कि यह अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण है और यह मुस्लिम पर्सनल लॉ का उल्लंघन है। उनका तर्क था कि वह मुसलमान हैं और इसके नाते यह मुस्लिम पर्सनल लॉ का मसला है अतः इसका निपटारा उसी के तहत होना चाहिए। साथ ही कई दस्तावेजों के आधार पर उन्होंने कहा कि शरीयत के तहत एक शौहर को अपनी पत्नी से तलाक के बाद मात्र तीन महीने तक गुजारा भत्ता देना चाहिए। हालांकि इस तर्क के एवज में न्यायमूर्ति चंद्रचूड़ ने स्पष्ट रूप से कोई निर्णय नहीं दिया, लेकिन उन्होंने सरकार को समान नागरिक संहिता को बनाने का सुझाव अवश्य दिया। एक ऐसी संहिता जो व्यक्तिगत क़ानूनों (पर्सनल लॉ) से ऊपर हो और वह सभी के लिए समान हो। धारा 125 के तहत इससे पहले भी दो मुस्लिम महिलाओं के गुजारा भत्ता का मामला आया था और उनका निर्णय भी इसी प्रकार था, जिसमें उनका भत्ता बहाल रखा गया– पहला, 1979 में बाई ताहिरा और अली हुसैन फिसाली का मामला और दूसरा, 1980 में फुजलुंबी और खादर अली का मामला। इन मामलों के निष्कर्षों ने पूरे मसले को ही परिवर्तित कर दिया। नारीवादियों, उदारवादियों और धर्मनिरपेक्षतावादियों द्वारा उच्चतम न्यायालय के फैसले की इस आधार पर आलोचना की जाने लगी कि इसने धर्म और व्यक्तिगत कानून के मुद्दे को एकदूसरे के समक्ष लाकर रख दिया। धीरेधीरे यह मामला एक धार्मिक संघर्ष में परिणित हो गया। मुस्लिम धार्मिक नेताओं का मानना था कि उच्चतम न्यायालय का यह निर्णय उनके पूरे समुदाय पर हमला है। उलेमाओं ने 'इस्लाम खतरे में है' का फतवा जारी किया और अल्पावधि में ही यह दावा सांप्रदायिक संघर्ष में परिवर्तित हो गया। मुस्लिम संप्रदावादियों की अपील थी कि निर्णय को बदला जाए और धारा 125 से मुस्लिम महिलाओं को अलग किया जाए तथा हिंदू संप्रदायवादियों ने न्यायालय के निर्णय का पुरजोर समर्थन किया।

अगस्त 1985 में मुस्लिम महिलाओं को धारा125 की परिधि से बाहर निकालने की नियत से एक विधेयक बनाया गया। मुस्लिम उदारवादियों, नारीवादियों और समाज सुधारकों द्वारा पूरे भारत में खासकर महाराष्ट्र में धारा 125 के समर्थन में बहुपत्नी विरोध और मुस्लिम महिलाओं को गुजाराभत्ता व संरक्षण की अपील के साथ अभियान शुरू हुआ। मुंबई (तत्कालीन बंबई), हैदराबाद, लखनऊ, भोपाल आदि स्थानों पर संघर्ष उभरने लगे। अक्टूबर1984 में एक हिंदू संगठन विश्व हिंदू परिषद ने अयोध्या में बाबरी मस्जिद के परिसर को राम जन्मभूमि की घोषणा और राम मंदिर को बनाने को लेकर आंदोलन शुरू किया। इससे भीषण संघर्ष पनपा और प्रत्युत्तर के रूप में मुस्लिम धार्मिक नेताओं द्वारा बाबरी मस्जिद एक्शन कमेटी की स्थापना की गई। अब शाहबानो और बाबरी मस्जिद के मामलों को एक साथ देखा जाने लगा। फरवरी 1986 में बाबरी मस्जिद-राम मंदिर विवाद के दौरान ही मंदिर में पूजाअर्चना हेतु ताला खोल दिया गया। फलस्वरूप विश्व हिंदू परिषद ने 'विजय जुलूस' निकाला और मुस्लिम समुदायों ने

प्रतिशोध के रूप में 'मातम जुलूस' निकाला। इसके परिणामस्वरूप कई दंगे और संघर्ष हुए। अंततः धारा 125 के तहत मुस्लिम महिलाओं केसंरक्षण को खारिज कर दिया गया और तर्क यह दिया गया कि तलाक के तीन महीनों के पश्चात भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी समाप्त हो जाती है। विधेयक के लागू होने पर जबर्दस्त हंगामा हुआ और संसद के समक्ष ही150-200 महिलाओं ने गिरफ्तारी दी।

स्वायत्त महिला संगठनों द्वारा 7 मार्च को संगठित होकर प्रदर्शन किए और उनकी अपील थी कि महिलाओं के मुद्दों का संप्रदायीकरण बंद हो और समान नागरिक संहिता का निर्माण किया जाए। इस बारे में एक दिलचस्प वाकया यह है कि 1986 में मुस्लिम महिला विधेयक को पारित किया गया, जिसमें मुस्लिम महिलाओं को अपने पति से भरण-पोषण नहीं मिलेगा और उन्हें गुजारा भत्ता वक्फ बोर्ड (यह एक संस्था है, जो सामुदायिक आधार पर प्राप्त भूमि की देखरेख करती है) से मिलेगा। कुल मिलाकर यह आंदोलन निर्णायक रूप से महिलाओं की एकता को सुदृढ़ करने में कारगर साबित हुआ और सांप्रदायिक तौर पर एकीकरण और संघर्ष उत्पन्न करने में भी इसकी भूमिका प्रमुख रही।

2.7 सती विरोधी आंदोलन

राजस्थान के एक गाँव में सितंबर 1987 में रूप कंवर के सती होने की प्रतिध्वनि के रूप में यह आंदोलन उभरा। इस आंदोलन ने न केवल हिंदू स्त्रियों के प्रति होने वाले अच्छेबुरे व्यवहारों के मुद्दों को उठाया, अपितु सामुदायिक स्वायत्तता, धार्मिक पहचान और भारत के बहुआयामी, विविध समाज और क़ानून व राज्य की भूमिका पर भी कई सवालिया निशान लगाए। इस वैचारिक संघर्ष में कई विद्वानों और पत्रिकाओं के माध्यम से भी अनेक दलीलें पेश की जाने लगी। इस सती कीघटना को अधिकांश जनसमूह द्वारा हत्या के रूप में देखा जाने लगा।

रूप कंवर का विवाह दिमागी तौर पर अस्वस्थ व्यक्ति के साथ हुआ और वे दाम्पत्य जीवन में लगभग छः महीने ही रह सके। पति की मृत्यु के पश्चात रूप कंवर को सती बनाने का निर्णय अग्रिम घोषणा के पश्चात लिया गया। लोगों का कहना हैं कि वह भागकर घुड़साल में छिप गई, परंतु उसे खींच कर बाहर निकाला गया और नशे के कई इंजेक्शन लगाकर उसे दुल्हन की तरह सजाया गया। इसके बाद लकड़ियों और नारियल के टुकड़ों से ढककर चिता पर बैठा दिया गया। अखबारवालों और प्रेसवालों को वहाँ से मार कर भागा दिया गया। इसके बाद रूप कंवर को जिंदा जलाने वाला घटनास्थल एक लोकप्रिय तीर्थस्थल में बदल गया। राजपूतों द्वारा 1987 में जयपुर में रूप कंवर की अर्थी पर सती धर्म रक्षा समिति की स्थापना की गई और रूप कंवर की मृत्यु के दसवें दिन चुनरी महोत्सव का आयोजन किया गया। जयपुर के नारीवादियों द्वारा इसके विरोध में न्यायालय में याचिका दायर की गई और न्यायालय ने महोत्सव को रोकने का आदेश दिया। हालांकि इस आदेश का कुछ खास असर नहीं दिखा। विभिन्न दलीलों के आधार पर कई समूहों ने सती बनाने को वैध बनाने की कवायद हुई। नारीवादियों कोयह देखकर गहरा आघात लगा कि किस प्रकार से परंपरा, आध्यात्मिकता, आधुनिकता, भौतिकता, ग्रामीण, शहरी के मध्य हुए

महिलाओं के ध्रुवीकरण ने उन्हें मानकशून्य बना दिया है। उनकी मांगें तीन प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप की थीं जो इस प्रकार है -

- रूप कंवर के सास-ससुर और इंजेक्शन लगाने वाले डॉक्टर पर हत्या का आरोप लगाया जाए।
- रूप कंवर की मौत का राजनीतिक अथवा आर्थिक लाभ अर्जित करने वालों को दंडित किया जाए।
- धर्म के नाम पर महिलाओं पर होने वाले अपराधों पर प्रतिबंध लगाते हुए नए कानून का क्रियान्वयन किया जाए।

2.8 सारांश

इस इकाई के अंतर्गत विनोबा द्वारा चलाए गए भूदान आंदोलन का वर्णन प्रस्तुत किया गया है और यह आंदोलन ही आगे चलकर ग्रामदान में परिणित हो गया। इसके बाद बंगाल के नक्सलवाड़ी गाँव में चलाए गए भूमि आंदोलन (जिसे कई विद्वान कृषक आंदोलन के रूप में समझते हैं) का विस्तृत वर्णन किया गया है। यह आंदोलन वर्तमान समय में समाज विरोधी बन गया है और कई हिंसात्मक घटनाओं को अंजाम देने के लिए ज़िम्मेदार है। जयप्रकाश नारायण द्वारा चलाया गया संपूर्ण क्रांति आंदोलन वास्तव में अद्वितीय आंदोलन है, जिसने इतने बड़े पैमाने पर परिवर्तन की सोच को विस्तार दिया। शाहबानो प्रकरण और सती विरोधी आंदोलन का आरंभ तो महिला हितैषी आंदोलन के रूप में हुआ, परंतु आगे चलकर इन आंदोलनों ने धार्मिक, सांप्रदायिक रूप धारण कर लिया। इन सभी आंदोलनों ने किसी-न-किसी रूप में लोगों को संगठित करने का काम किया और समाज में व्याप्त कुरीतियों के प्रति जनसाधारण को अवगत कराया।

ज्ञान शांति मैत्री

2.9 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: भूदान और ग्रामदान आंदोलन को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2: नक्सलबाड़ी आंदोलन की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत कीजिए।

प्रश्न 3: सम्पूर्ण क्रांति आंदोलनका वर्णन कीजिए।

प्रश्न 4: टिप्पणी कीजिए

1 . शाहबानो प्रकरण 2. सती विरोधी आंदोलन

2.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

कुमार, र. (2002).*स्त्री संघर्ष का इतिहास.* नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन

किश्वर, म.प. (2005). *राष्ट्रवाद की चाकरी में धर्म.* नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन

पाण्डेय, एस.एस. (2009). *समाजशास्त्र*. नई दिल्ली: टाटा मैगरा हिल एजुकेशन प्राइवेट लिमिटेड

कुमार, अ. (2014). *गांधी-लोहिया-जयप्रकाश और हमारा समय*. दिल्ली: नयी किताब

चक्रवर्ती, व. एवं पाण्डेय, र.क. (2012).*आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन* नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशन इंडिया प्राइवेट लिमिटेड

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 3
नव सामाजिक आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 नव सामाजिक आंदोलन: परिचय
3.3 पर्यावरणीय आंदोलन
3.4 नारीवादी आंदोलन
3.5 मानवाधिकार आंदोलन
3.6 छात्र आंदोलन
3.7 सारांश
3.8 बोध प्रश्न
3.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप –

- नव सामाजिक आंदोलनों के परिदृश्य और संरचनाको समझा सेकेंगे।
- पर्यावरणीय आंदोलनों की जानकारी प्राप्त करेंगे।
- नारीवाद एवं मानवाधिकार की व्याख्या कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

सामाजिक आंदोलनों को लंबे से चले आ रहे निरंतर सामूहिक प्रयास केरूप में परिभाषित किया जा सकता है। सामान्य तौर पर ये ऐसे प्रयत्न होते हैं, जो सरकार की नीतियों के विरुद्ध खड़े होते हैं और परिवर्तन के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। नव सामाजिक आंदोलन भी परिवर्तन की मांग ही करते हैं परंतु इनमें वे आंदोलन आते हैं, जिन मांगों को अभी तक नजरंदाज कर दिया गया था अथवा अत्यंत कम महत्व दिया गया था।

3.2 नवसामाजिक आंदोलन: परिचय

नवसामाजिक आंदोलन वे आंदोलन होते हैं जो उत्तर-आधुनिक राजनीति के अंतर्गत आते हैं। इनका सरोकार मानवीय जीवन की गुणवत्ता का उत्तरोत्तर विकास करना होता है। ये वे आंदोलन हैं जो मानव जीवन में फैले अन्य के प्रति नवीन चेतना से प्रोत्साहित होकर समकालीन परिदृश्य में उभरकर सामने आए

हैं। इन्हें नवसामाजिक आंदोलन का संबोधन इसलिए दिया जाता है क्योंकि इनमें पहचान, अस्मिता और स्वायत्ता से जुड़े ऐसे मसलों पर ध्यान केंद्रित किया गया है जो किसी वर्ग विशेष से संबंधित मसले नहीं हैं और ये सामाजिक आंदोलन के आधुनिक स्वरूप को दर्शाते हैं। नवसामाजिक आंदोलनों का मूल उद्देश्य केवल राज्य की सत्ता में सुधार करना ही नहीं है, अपितु इनके साथ-साथ वैयक्तिक व सामूहिक नैतिकता को भी सुदृढ़ करना है। मोटे तौरपर, अस्मितापरक आंदोलनों को नवसामाजिक आंदोलन की संज्ञा दी जा सकती है। इन आंदोलनों में किसी वर्ग विशेष अथवा किसी समूह विशेष का सरोकार नहीं होता है यह सामूहिक हित के लिए संचालित होता है। भारत में इन आंदोलनों का आरंभ70 के दशक से माना जाता है। नवसामाजिक आंदोलनों में पर्यावरणीय आंदोलन, नारीवादी आंदोलन, मानवाधिकार आंदोलन, छात्र आंदोलन आते हैं।

3.3 पर्यावरणीय आंदोलन

पर्यावरणीय आंदोलन न सिर्फ भारत, अपितु पूरे विश्व में चर्चा का पर्याय बन चुका है। आज वैश्विक स्तर पर पर्यावरण राजनीति का अंग बन चुका है। यदि पर्यावरणको वैज्ञानिक नज़रिए से विश्लेषित किया जाए, तो इसका अभिप्राय है, संपूर्ण विश्व जिसमें जीव-जंतु तथा उनके प्राकृतिक निवास व जल, वायु, मृदा आदि की एक अंतर्संबंधित संरचना है। विश्व के आधुनिकमॉडल के परिणामस्वरूप उत्पन्न पर्यावरणीय समस्याओं के प्रतिरोध के रूपमें उत्पन्न आंदोलनों को पर्यावरणीय आंदोलन के नाम से जाना जाता है। यहाँ चार पर्यावरणीय आंदोलनों को प्रस्तुत किया जा रहा है–

चिपको आंदोलन

चिपको आंदोलन की शुरुआत सन्1973 में उत्तराखंड के चमोली ग्राम (तब उत्तर प्रदेश था) में हुआ था। इस आंदोलन में किसानों ने सूखे वृक्षों की कटाई का शांत और अहिंसक विरोध किया था। यह आंदोलन तब शुरू होता है, जब वन विभाग ने कृषि उपकरण बनाने वाले एक स्थानीय संगठन 'दसौली ग्राम स्वराज्य संघ' को एक वृक्ष देने से मना कर दिया और वन विभाग ने एक निजी कंपनी को वृक्ष दे दिया। इस घटना से आक्रोशित होकर उक्त संघ के नेतृत्व में सभी ग्रामीण लकड़ी से भरे ट्रकों के आगे लेट गए और लकड़ी के गोदाम में आग लगा दी। इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य व्यवसाय के लिए हो रही वनों की कटाई पर रोक लगाना था और इसे रोकने के लिए बाद में महिलाएँ पेड़ों से चिपक कर खड़ी हो गईं ।इनकी नीलामी के प्रति स्थानीय महिला गौरा देवी व अन्य महिलाओं द्वारा विरोध किया गया, परंतु ठेकेदार और सरकार पर इस विरोध का कोई असर नज़र नहीं आया। बाद में एक नेता चंडी प्रसाद भट्ट के नेतृत्व में इस प्रयास ने एक प्रभावकारी आंदोलन का रूप ले लिया। फलतः महिलाएँ पेड़ों से चिपक कर खड़ी हो गई और वे कहने लगी कि पहले हमें काटो फिर इन पेड़ों को भी काट लेना। चिपको आंदोलन का घोषवाक्य था–

क्या हैं जंगल के उपकार, मिट्टी, पानी और बयार।
मिट्टी, पानी और बयार, जिंदा रहने के आधार॥

प्रारंभ में इस आंदोलन की मांगे आर्थिक थीं यथा- वनों और वनवासियों का शोषण करने वाली ठेकेदारी व्यवस्था का उन्मूलन कर वन श्रमिकों की न्यूनतममज़दूरीका निर्धारण, नया वन बंदोबस्त और स्थानीय छोटे उद्योगों के लिए रियायती कीमत पर कच्चे माल की आपूर्ति। शनैः शनैः चिपको आंदोलन परंपरागत अल्पजीवी विनाशकारी अर्थव्यवस्था के विरुद्ध स्थायी अर्थव्यवस्था-परिस्थितिकी के एक सशक्त जनआंदोलन के रूप में परिणित हो गया। अब आंदोलन की मांगे बदल गईं यथा- हिमालय के वनों की प्रमुख उपज राष्ट्र के लिए जल और कार्य मिट्टी बनाना, सुधारना और उसे स्थिरता प्रदान करना है। इसलिए अभी हरे पेड़ों की कटाई तब तक (10 से 25 वर्ष) स्थगित रखी जानी चाहिए, जब तक राष्ट्रीय वन नीति के घोषित उद्देश्यों के अनुसार हिमालय में कम-से-कम 60 प्रतिशत क्षेत्र पेड़ों से आच्छादित न हो जाए। मृदा और जल संरक्षण करने वाले इस प्रकार के पेड़ों का रोपण किया जाना चाहिए, जिनसे लोग भोजन आदि की मूलभूत आवश्यकतों को पूरा कर सकें। मोटे तौर पर यह आंदोलन निम्न मांगों पर आधारित था–

1. व्यवसाय हेतु पेड़ों की कटाई पर रोक लगाई जाए।
2. परंपरागत अधिकारों को लोगों की न्यूनतम आवश्यकताओं के आधार पर वरीयता दी जाए।
3. वृक्षों के प्रबंधन हेतु ग्रामीणसमितियों की व्यवस्था की जाए।
4. वन से संबंधित कुटीर उद्योगों का संवर्धन हो और इसके लिए कच्चे माल धन व तकनीकों को मुहैया कराया जाए।
5. वृक्ष लगाने में लोगों की भागीदारी को सुनिश्चित किया जाए और सूखे व ऊसर वनों को हरा-भरा बनाया जाए।
6. स्थानीय परिस्थितियों, आवश्यकताओं और क़िस्मों पर आधारित पौधरोपण को वरीयता प्रदान की जाए।

इस प्रकार से इस आंदोलन ने पौधरोपण और मृदा अपरदन जैसी आधारभूत मुद्दों पर अपना ध्यान आकृष्ट किया। इस आंदोलन ने 1980 में एक बड़ी जीत हासिल की और तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने प्रदेश के हिमालयी वनों में वृक्षों की कटाई पर अगले 15 वर्षों के लिए रोक लगा दी। सन् 1987 में इस आंदोलन को सम्यक जीविका पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

अप्पिको आंदोलन

चिपको आंदोलन के पश्चात कर्नाटक के उत्तर-पश्चिमी घाट की निवासियों द्वारा किया गया अप्पिको चलैवरी आंदोलन सन् 1983 में किया गया। अप्पिको कन्नड भाषा का शब्द है, जिसका कन्नड में अर्थ चिपको होता है। इस क्षेत्र के प्राकृतिक वनों को ठेकेदार द्वारा काट दिया गया था, जिसके परिणामस्वरूप मृदा अपरदन हुआ और जलस्रोत सूखने लगे। सिरसों ग्राम के निवासियों को आजीविका हेतु झाड़ियाँ, सूखे टहनियों को इकट्ठा करने व चारा, शहद आदि वनोत्पादों को प्राप्त करने के प्रथागत अधिकारों से

वंचित कर दिया गया। कुछ समय के पश्चात ग्रामीणों ने देखा कि उनके गाँवों के चारों ओर से जंगल धीरे-धीरे गायब होता जा रहा है। इसका परिणाम सितंबर, 1983 में आंदोलन के रूप में दिखाई दिया और चिपको आंदोलन की ही भांति महिलाएँ पेड़ों से लिपट गईं । स्थानीय लोगों ने ठेकेदारों से पेड़ काटने और वृक्षों को गिराने पर प्रतिबंध की मांग की। उन्होंने अपनी आवाज बुलंद कर कहा कि हम व्यापारिक प्रयोजनों के लिए पेड़ों को बिल्कुल भी नहीं कटने देंगे और पेड़ों पर चिपककर दृढ़ता से बोले कि यदि पेड़ काटने हैं, तो उसके लिए पहले हमारे ऊपर कुल्हाड़ी चलाओ। वे वृक्षों के लिए अपने जीवन को भी कुर्बान करने को तैयार हो गए।

जंगल में लगातार 38 दिनों तक चले विरोध आंदोलन ने सरकार को पेड़ों की कटाई पर प्रतिबंध लगाने का आदेश देने के लिए मजबूर किया। यह आंदोलन इतना लोकप्रिय हो गया कि पेड़ काटने आए मजदूर भी पेड़ों की कटाई छोड़कर चले गए। अप्पिको आंदोलन दक्षिणी भारत में पर्यावरण जागृति का पर्याय बना। इसने इस बात पर प्रकाश डाला कि किस प्रकार वन विभाग की नीतियों से वृक्षों के बाजारीकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है, जो जनसाधारण को रोज़मर्रा में उपयोग होने वाले कई आवश्यक संसाधनों से वंचित कर रहा है। इसने इस प्रक्रिया में संलग्न ठेकेदारों, वन विभाग के कर्मचारियों तथा राजनीतिज्ञों की साँठ-गाँठ का भी पर्दाफाश किया। यह आंदोलन अपने तीन उद्देश्यों की पूर्ति में सफल रहा–

- जंगल में विद्यमान वृक्षों की रक्षा करने में।
- वन भूमि में पुनः वृक्षारोपण करने में।
- वन संपदा का प्रयोग प्राकृतिक संसाधनों का ध्यान रखते हुए करने में।

अप्पिको आंदोलन ने पश्चिमी घाट के सभी गांवों में व्यापारिक हितों से उनकी आजीविका के साधन, जंगलों तथा पर्यावरण को होने वाले खतरे और उससे उत्पन्न चुनौतियों के प्रति सचेत किया। अप्पिको ने शांतिपूर्ण तरीके से गांधीवादी मार्ग पर चलते हुए एक ऐसे पोषणकारी समाज के लिए लोगों का मार्ग प्रशस्त किया, जिसमें न कोई मनुष्य का ओर न ही प्रकृति का शोषण कर सके।

नर्मदा बचाओ आंदोलन

नर्मदा बचाओ आंदोलन भारत में क्रियाशील पर्यावरण आंदोलनों की परिपक्वता का उदाहरण है।यह आंदोलन नर्मदा नदी परियोजना से उभरा है। नर्मदा नदी परियोजना भारत के तीन प्रमुख राज्यों गुजरात, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र से संबंधित परियोजनाहै। सन् 1987 से नर्मदा नदी पर तैयार की जा रही नर्मदा घाटी परियोजना (जिसमें दो महापरियोजनाएं सम्मिलित हैं- प्रथम, गुजरात में सरदार सरोवर परियोजना और द्वितीय, मध्य प्रदेश में नर्मदा सागर परियोजना) सबसे बड़ी एवं बहुउद्देशीय नदी घाटी परियोजना है, जो सिंचाई, उत्पादन, बिजली, पेयजल आपूर्ति, बाढ़ व सूखे की संभावनाओं पर प्रतिबंध लगाने के प्रयोजन से नियोजित है। यह परियोजना तो बहुत ही लाभप्रद प्रतीत होती है, परंतु इसके परिणाम भी बहुत ही भयप्रद हैं। अनुमानतः इस जलाशय में 37,000 हेक्टेयर भूमि जलमग्न हो जाएगी और इस जलमग्न

भूमि में 11,000 हेक्टेयर वन सम्मिलित हैं। साथ ही इससे 248 गाँव में निवासरत लगभग एक लाख लोग विस्थापित हो जाएँगे।

उर्युक्त भयप्रद परिणामों की प्रतिध्वनि के रूप में सर्वप्रथम स्थानीय लोगों द्वारा इसका विरोध प्रदर्शन किया गया और यह विरोध प्रमुख रूप से पुनर्वास से संबधित था। उसके बाद स्थानीय स्वयंसेवी संगठनों द्वारा इसे एक जन आंदोलन के रूप में संगठित किया गया और विस्थापन, पुनर्वास, आजीविका, संस्कृति आदि प्रकार की समस्याओं को उठाया गया। इस परियोजना के विरोध ने अब एक जन आंदोलन के रूप में विकराल रूप धारण कर लिया था। 1980- 87 के दौरान जनजातियों के अधिकारों की समर्थक गैर-सरकारी संस्था अंक वाहिनी के नेता अनिल पटेल ने जनजातीय लोगों के पुर्नवास के अधिकारों को लेकर हाईकोर्ट व सर्वोच्च न्यायालय में याचिका दायर की। सर्वोच्च न्यायालय के आदेशों के परिणामस्वरूप गुजरात सरकार ने दिसंबर, 1987 में एक पुर्नवास नीति की घोषणा की। दूसरी ओर 1988 में इस आंदोलन ने औपचारिक रूप से नर्मदा घाटी परियोजना से संबंधित सभी कार्यों पर रोक की मांग की। इससे लड़ने के लिए लाखों लोग अपने घरों से बाहर निकले और यह प्रतिज्ञा की कि वे वापस घरों में जाने कि अपेक्षा डूब जाना पसंद करेंगे। 1989 में मेघा पाटेकर द्वारा लाए गये नर्मदा बचाओ आंदोलन ने सरदार सरोवर परियोजना तथा इससे विस्थापित लोगों के पुर्नवास की नीतियों के क्रियान्वयन की कमियों पर प्रकाश डाला। इस आंदोलन के कारण विश्व बैंक ने सरदार सरोवर परियोजना से अपने हाथ खींच लिए और एक हद तक यह आंदोलन सफल रहा। यथा –

1. 1993 में नर्मदा सरोवर से विश्व बैंक का प्रस्थान
2. 1994-99 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा सरोवर बांध की निर्मिति पर प्रतिबंध
3. 1999-2000 में महेश्वर बांध से विदेशी निवेशकों ने अपने हाथ वापस लिए
4. सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रभावित लोगों के पुनर्वास का आदेश
5. 2003 में राष्ट्रीय पुनर्वास नीति की स्वीकारोक्ति
6. 2005 में सूचना के अधिकार की प्राप्ति

चिल्का बचाओ आंदोलन

उड़ीसा में स्थित एशिया की सबसे बड़ी खारे पानी की झील का गौरव 'चिल्का' को प्राप्त है, जिसकी लंबाई 72 कि.मी.व चौड़ाई 25 कि.मी. और क्षेत्रफल लगभग 1000 वर्ग कि.मी. है। इस झील पर 192 गांवों की आजीविका निर्भर करती है, जो मत्स्य पालन खासकर झींगा मछली से जीवन निर्वाह करते हैं। दो लाख से अधिक जनसंख्या और 50,000 से अधिक मछुआरे अपनी आजीविका के लिए चिल्का पर आश्रित है। 1986 में, तत्कालीन पटनायक सरकार ने चिल्का में 1400 हेक्टेयर झींगा प्रधान क्षेत्र को टाटा तथा उड़ीसा सरकार की संयुक्त कंपनी को पट्टे पर देने निर्णय लिया। इसका विरोध मछुवारों के साथसाथ विपक्षी राजनीतिक पार्टी जनता दल ने भी किया, जिसके कारण जनता दल को विधानसभा की सभी

पाँचों सीटें पर जीत मिली। लेकिन 1989 में जनता दल के सत्ता में आने पर परिस्थिति फिर परिवर्तित हो गई और परिणाम 1991 में जनता दल की सरकार द्वारा झींगा प्रधान क्षेत्र के विकास हेतु टाटा कंपनी को संयुक्त क्षेत्र कंपनी बनाने के लिए आमंत्रण के रूप मेंपरिलक्षित हुआ।

इस आमंत्रण ने एक संघर्ष की आधारशिला को निर्मित किया। चिल्का के 192 गाँवों के मछुआरों ने 'मत्स्य महासंघ' के अंतर्गत संगठित होकर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना आरंभ किया और उनके साथ इस संघर्ष में उत्कल विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों ने भी बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। 15 जनवरी, 1992 में गोपीनाथपुर गाँव में यह संघर्ष जन आंदोलन के रूप में परिणित हो गया, परंतु इस पर जब सरकार की ओर से कोई सकारात्मक रवैया नहीं अपनाया गया तब चिल्का क्षेत्र के स्थानीय लोगों ने उत्कल विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों द्वारा गठित संगठन 'क्रांतिदर्शी युवा संगम के सहयोग से चिल्का के अंदर बनाए गए बांध को तोडना आरंभ किया। अंतत दिसंबर, 1992 में उड़ीया सरकार को टाटा को दिये गये पट्टे के अधिकार को खारिज करना पड़ा।

3.4 नारीवादी आंदोलन

अन्य सामाजिक समूहों की तरह भारतीय महिलाएँ औपनिवेशिक भारत और स्वतंत्र्योत्तर भारत में सामाजिक आंदोलन में अपनी भूमिका दर्ज करती रही हैं। समाज के सभी पहलुओं में भेदभावपूर्ण व्यवहार की शिकार महिलाएँ व उनकी समस्याएँ स्वतंत्रतापूर्व काल में सामाजिक सुधारकों की चिंता का पर्याय बनी हुई थी। स्वातंत्र्योत्तर काल में बड़ी मात्रा में जनसाधारण, विद्वानों और विभिन्न विचारधाराओं को मानने वाले संगठन आदि ने महिलाओं के मुद्दे पर जोर डाला। संविधान में भी महिलाओं के उत्थान के लिए विशिष्ट प्रावधानों की व्यवस्था की गई है, परंतु भारतीय समाज व्यवस्था की संरचना पितृसत्तात्मक है जिसमें महिलाओं की स्थिति दोयम दर्जे की मानी जाती है। भारतीय समाज में नारीवादी आंदोलन का स्वरूप शहरी और ग्रामीण समाजों में भिन्न-भिन्न प्रकार का है। ग्रामीण नारीवादी आंदोलनों के मूल मुद्दे इस प्रकार है- घरेलू हिंसा के विरुद्ध आंदोलन, शराब बिक्री का विरोध, दहेज का विरोध, बलात्कार का विरोध आदि। शहरी महिलाओं का हित ग्रामीण महिलाओं से अलग हैसमाज कार्य के लिए समान वेतन, कार्य स्थल पर यौन शोषण पर प्रतिबंध,कार्य स्थल पर महिलाओं को पर्याप्त सुरक्षा मुहैया कराना आदि। लेकिन दोनों समाजों में एक समानता है कि दोनों समाजों की महिलाएं शोषण का शिकार हुई हैं।

भारत में स्त्रीवादी नवसामाजिक आंदोलन की शुरुआत पार्टी के आधार पर हुई। 1978 में साम्यवादी दल से संबंधित अखिल भारतीय जनवादी महिला समिति (AIDWA)की स्थापना हुई।AIDWA और NFIW (1954 में महिला आत्मरक्षा समिति के अरुणा आसफ अली द्वारा नेशनल फेडरेशन ऑफ इंडियन वुमेन की स्थापना की गई द्वारा कामकाजी महिलाओं के मुद्दे पर काम किया गया। इन दोनों संस्थाओं मे सार्वजनिक जीवन में कार्यरत महिलाओं की समस्या को दूर करने के लिए 1972 में SEWA (सेल्फ इम्प्लोएड वुमेन एसोशीएशन) की स्थापना द्वारा महिलाओं को पुरुषों के बराबर वेतन देने पर जोर दिया गया और महिलाओं के घरेलू कार्य के महत्व पर भी प्रकाश डाला गया। ईला भट्ट की अध्यक्षता में

SEWA ने असंगठित श्रम क्षेत्र की महिलाओं को सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न किया। देविका जैन और बीना मजूमदार ने अवैतनिक व घरेलू काम के महत्व के प्रति आगाज कराया और उसे काम न माने जाने का मुद्दा उठाया। 1980 के दशक में महिलावादी आंदोलन अखिल भारतीय हो गया। राजस्थान में रूप कँवर को अपने पति की चिता पर बलपूर्वक बैठा दिये जाने के विरोध में महिलाओं ने देशव्यापी आंदोलन चलाया।

लोकतांत्रिक भारत के 60 वर्ष से अधिक बीत चुके हैं। हालांकि महिलाओं की स्थिति में निर्णायक सुधार हुआ है लेकिन महिलाओं की स्थिति आज भी दोयम दर्जे की शोषित और वंचित है। यद्यपि समाज में सभी महिलाओं की समस्या लगभग एकसमान है , परंतु कुछ लोगों द्वारा धार्मिक आधार पर, जातीय आधार पर महिलावादी आंदोलन को विभाजित करने का प्रयास किया जा रहा है। 1985 के 'शाहबानो वाद' के मुस्लिम गुजारा भत्ता जैसे गंभीर मुद्दे पर आवाज उठाने के पश्चात उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट रूप में कहा है कि महिलाओं को गुजारा भत्ता दिया जाना चाहिए। लेकिन कुछ अराजक तत्वोंके दबाव के कारण तत्कालीन राजीव गांधी सरकार ने सिविल प्रक्रिया में संशोधन कर दिया, जिसके अनुसार गुजारे भत्ते प्राप्त करने का अधिकार मुस्लिम महिलाओं को नहीं है। वर्ष2006 में फिर से 'इमराना वाद' पर धर्मिक विवाद महत्वपूर्ण हो गया, जबकि सभी धर्म की महिलाओं के हित समान है। समकालीन महिलावादी आंदोलनों का प्रमुख मुद्दा महिलाओं के पारंपरिक हुनर और कौशलता का मूल्यांकन,समान वेतन पर जोर व नवीन आर्थिक नीति का विरोध आदि बना हुआ है।

3.5 मानवाधिकार आंदोलन

मानवाधिकार पद का प्रयोग वर्तमान समय में सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनकारियों द्वारा ऐसे संदर्भ में किया जाता है, जो नैसर्गिक, हमारे स्वभाव में अंतर्निष्ठ और, जिनके बिना हमारा मनुष्य के रूप में जीवन बसर नहीं कर सकते। इन अधिकारों का राज्य द्वारा हनन नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि राज्य की सत्ता से इन अधिकारों की रक्षा किए जाने की आवश्यकता है। भारत में मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 के अनुसार, मानव अधिकारों से अभिप्राय संविधान द्वारा समझौतों में निहित अधिकारों से है जो स्वतंत्रता, समानता और गरिमामयी जीवन की दिशा को अग्रेसित रखे। इंदिरा गांधी द्वारा 25 जून 1975 को आपातकाल लगाने से नागरिक अधिकार आंदोलन को प्रेरणा मिली। मूल अधिकारों को यह कहकर निलंबित कर दिया गया कि इनका प्रयोग सुविधासंपन्न वर्ग द्वारा अधिकांश व्यक्तियों के हितों हेतु नियोजित कार्यक्रमों के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने के लिए किया जाता है। इसने ऐसे बौद्धिक, राजनीतिक परिवेश को जन्म दिया , जिसने नागरिक और लोकतांत्रिक अधिकार आंदोलनों के वर्तमान स्वरूप को निर्मित किया। वर्तमान समय में कई राज्यों में मानव अधिकारों से संबंधित समूह हैं। 1976 में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में पीपल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज एण्ड डेमोक्रेटिक राइट्स संगठन का गठन किया गया। कुछ समय के पश्चात यह संगठन दो भागों में बंट गया–

- पीपल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज (PUCL)
- पीपल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स (PUDR)

यह विभाजन मूल रूप से वैचारिक आधार पर ही था। PUCL नागरिक अधिकारों और लोकतांत्रिक अधिकारों को अलग करता है और सामान्यतः लोकतांत्रिक अधिकार इसके कार्यक्षेत्र की परिधि से बाहर रहते हैं। यह संगठन उदारवादी प्रकृति का है, जो जन आंदोलन के स्थान पर संवैधानिक कदम उठाने पर जोर देता है। वहीं PUDR का मानना है कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है और उन्हें उस प्रकार के आंदोलनों का समर्थन करना चाहिए,जो शोषित वर्गों के सामाजिक-आर्थिक मसलों को उठाते हैं।

इनके अलावा भी अन्य महत्वपूर्ण और सक्रिय राज्य स्तरीय संगठन हैं जो इस क्षेत्र में उल्लेखनीय काम करते हैं–

- आंध्र प्रदेश नागरिक संघ (APCLC)
- लोकतांत्रिक अधिकारों हेतु संघ, पंजाब (AFDR)
- लोकतांत्रिक अधिकारों के रक्षण हेतु संघ, महाराष्ट्र (CPDR)
- लोक संघ अधिकार, गुजरात
- मानवाधिकारों हेतु नागा लोगों का आंदोलन, नागालैंड
- प्रजातंत्र हेतु नागरिक गण, दिल्ली व मुंबई

3.6 विद्यार्थी आंदोलन

नव सामाजिक आंदोलन में विद्यार्थी आंदोलन का स्थान महत्वपूर्ण रहा है। चूँकि छात्र समाज का सबसे जागरूक वर्ग होता है और किसी भी आंदोलन को मूर्त रूप दिए जाने हेतु छात्रों का सक्रिय सहयोग अपेक्षित होता है। भारत देश के अनेक भागों में अलग-अलग समय पर छात्र आंदोलन शिक्षा की समस्याओं से लेकर राजनीतिक मुद्दों तक क्रियाशील होते रहे हैं।1953 और 1958 में क्रमशः लखनऊ विश्वविद्यालय और बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में छात्रों द्वारा बृहद् स्तर पर उपद्रव हुए और इसके पीछे प्रमुख कारक कई नगरों (लखनऊ, ग्वालियर, इंदौर, कलकत्ता, जयपुर और इलाहाबाद) में 1950 के दशक में छात्रों पर पुलिस द्वारा गोलियाँ चलना था। इस छात्र असंतोष को 'विद्यार्थी अनुशासनहीनता' कहा गया। शिक्षा आयोग के अनुसार वयस्कों में अनुशासन का गिरता स्तर और उनकी नागरिक चेतना व निष्ठा में कमी ही विद्यार्थी अनुशासनहीनता के लिए उत्तरदायी है। बाद में हुए कई अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि छात्र आंदोलन का एक प्रमुख कारण बढ़ती हुई बेरोज़गारी है। छात्र बहुत ऐसे तत्कालीन मुद्दों को लेकर भी विरोध करते हैं जो उन्हें विद्यार्थी के रूप में प्रभावित करते हैं। कक्षा में कमरों और हॉस्टल में

अधिक और बेहतर आधारभूत सुविधाओं को लेकर किया गया आंदोलन,फीस वृद्धि हेतु किया गया आंदोलन, परीक्षाओं का संचालन,कॉलेज तथा विश्वविद्यालय प्रशासन के विरोध में भी छात्र आंदोलन होते हैं। रॉस ने छात्र आंदोलन अथवा विरोध के लिए पाँच कारकों को महत्वपूर्णमाना है–

- राजनीतिक विरोध
- नैतिक विरोध
- आर्थिक विरोध
- शैक्षणिक (शिक्षा विषयक) विरोध
- आनंद के लिए विरोध

शिक्षा आयोग ने शिक्षा व्यवस्था से संबंधित कुछ ऐसे कारकों की सूची दी है,जो छात्र आंदोलन के लिए उत्तरदायी कारक हैं-

- विभिन्न समस्याओं में अध्यापन व अधिगम की अपर्याप्त सुविधाएँ
- अनेक अध्यापकों में अध्यापन कौशल की कमी
- अपर्याप्त विद्यार्थी अध्यापक संपर्क
- अनेक पाठ्यक्रम संबंधीकार्यक्रम की पुरातन और असंतोषजनक प्रकृति

3.7 सारांश

सामान्य तौर पर आंदोलनों का सृजन किसी-न-किसी असंतोष के परिणामस्वरूप होता है। नव सामाजिक आंदोलन भी इसकी परिधि से बाहर नहीं हैं। ये भी असंतोष के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न होते हैं, परंतु विशेष रूप से अस्मितापरक असंतोष से जन्म लेते हैं। इस इकाई में नव सामाजिक आंदोलन के क्षेत्र में अवस्थित पर्यावरणीय आंदोलन, नारीवादी आंदोलन, मानवाधिकार आंदोलन और छात्र आंदोलनों की रूपरेखा को प्रस्तुत किया गया है।

3.8 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: नव सामाजिक आंदोलन को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2: चिपको और अप्पिको आंदोलन का वृहत वर्णन कीजिए।

प्रश्न 3: नारीवादी आंदोलनों की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 4: मानवाधिकार आंदोलन क्या है, स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 5: टिप्पणी कीजिए

1. नर्मदा बचाओ आंदोलन
2. चिल्का बचाओ आंदोलन
3. छात्र आंदोलन

3.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

शाह, घ. (2009). *भारत में सामाजिक आंदोलन.* जयपुर: रावत पब्लिकेशन

चक्रवर्ती, व. एवं पाण्डेय, र.क. (2012).*आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन.* नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशन इंडिया प्राइवेट लिमिटेड

सिंह, व.ए. एवंसिंहज. (2005). *भारत में सामाजिक आंदोलन.* जयपुर: रावत पब्लिकेशन

सरस्वती, स. स. (2012). *किसान आंदोलन की वैचारिक पृष्ठभूमि* दिल्ली: ग्रांथशिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 4
समसामयिक परिप्रेक्ष्य

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 सूचना का अधिकार आंदोलन
4.3 अन्ना आंदोलन
4.4 जनसत्याग्रह मार्च
4.5 सारांश
4.6 बोध प्रश्न
4.7 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप –

- सूचना का अधिकार आंदोलन कीसंरचना की व्याख्या कर सकेंगे।
- अन्ना आंदोलन को रेखांकित कर सकेंगे।
- जनसत्याग्रह मार्च का वर्णन कर सकेंगे।
- आरक्षण विरोधी आंदोलन की जानकारी प्राप्त करेंगे।

4.1 प्रस्तावना

कोई भी समाज पूर्ण रूप से समस्यामुक्त नहीं हो सकता है और समस्याओं के कारण जनसाधारण में असंतोष की भावना का जन्म होता है। समकालीन परिप्रेक्ष्य में भी असंतोष ने कुछ आंदोलनों की रूपरेखा का निर्धारण किया है। समकालीन संदर्भ में प्रत्याशित प्रमुख आंदोलन निम्न हैं-

1. सूचना का अधिकार आंदोलन
2. अन्ना आंदोलन
3. जनसत्याग्रह मार्च
4. आरक्षण विरोधी आंदोलन

4.2 सूचना का अधिकार आंदोलन

सूचना का अधिकार अर्थात् राईट टू इन्फोर्मेशन का अभिप्राय है सूचना पाने का अधिकार, जो सूचना अधिकार कानून लागू करने वाला राष्ट्र अपने नागरिकों को प्रदान करता है। सूचना अधिकार के द्वारा राष्ट्र अपने नागरिकों को अपनी कार्य और शासन प्रणाली को सार्वजनिक करता है। यह एक कानून है, जिसका क्रियान्वयन 12 अक्टूबर, 2005 (15 जून, 2005 को इसके कानून बनने के 120वें दिन) को हुआ। भारत में भ्रष्टाचार को रोकने और समाप्त करने की दिशा में उठाया गया यह एक प्रभावी कदम है।

जन आंदोलनों की सफलता की सूची में यह आंदोलन का उल्लेखनीय उदाहरण है। इस आंदोलन का आरंभ 1992 में अरुणा राय के नेतृत्व में मजदूर किसान शक्ति संगठन के तहत होता है। राजस्थान के इस संगठन ने सरकार के सामने यह अपील की कि अकाल राहत कार्य और मजदूरों को दिए जाने वाले वेतन के रिकार्ड का सार्वजनिक तौर पर खुलासा किया जाए। यह अपील सर्वप्रथम राजस्थान के एक अत्यंत पिछड़े इलाके द्वारा की गई थी। इस मुहिम के तहत ग्रामीणों द्वारा प्रशासन से अपने वेतन और भुगतान के बिल उपलब्ध कराने का आग्रह किया गया। ग्रामीणों को अंदेशा था कि स्कूल, डिस्पेंसरी, छोटे बाँधों तथा सामुदायिक केंद्रों के निर्माण कार्य के दौरान धन की हेराफेरी हुई है। पहले 1994 और उसके पश्चात 1996 में मजदूर किसान शक्ति संगठन ने आंदोलन का आयोजन किया।1996 में 40 दिनों का आंदोलन चलाया गया और इसे व्यापक जनसहयोग मिलता रहा। इस आंदोलन के परिणामस्वरूप सरकार द्वारा राजस्थान पंचायती राज अधिनियम में संशोधन किया गया। नए अधिनियम के तहत जनता को पंचायत के दस्तावेजों की प्रमाणित प्रतिलिपि प्राप्त करने की स्वीकारोक्ति मिली। संशोधन के पश्चात पंचायतों के लिए अनिवार्य तौर पर बजट, लेखा-जोखा, व्यय, नीतियों और लाभार्थियों के बारे में सार्वजनिक घोषणा निर्धारित कर दिया गया। अब इन मदों के बारे में पंचायतों को नोटिस बोर्ड या अखबारों में सूचना देनी होती है।

सूचना के अधिकार को लेकर दिल्ली में राष्ट्रीय समिति का गठन 1996 में मजदूर किसान शक्ति संगठन द्वारा किया गया। इसका मुख्य प्रयोजन सूचना केअधिकार को राष्ट्रीय अभियान का स्वरूप प्रदान करना था। 1 मई, 2000 को राजस्थान विधानसभा ने सूचना का अधिकार अधिनियम पारित किया और 26 जनवरी, 2001 को राजस्थान में सूचना का अधिकार कानून लागू हुआ। कानून बनने के उत्साह ने मजदूर किसानों में एक नए उमंग और जोश का संचार किया, जिसने विकास योजनाओं की पड़ताल के लिए उन्हें प्रेरित किया। 4 अप्रैल, 2001 को जनवाद (कुंभलगढ़, राजसमंद) में हुई सुनवाई में 44 लाख के घोटाले को उजागर किया गया। तीन अधिकारी जेल गए, आठ निलंबित हुए और 25 के खिलाफ विभागीय जाँच हुई। 5-6 अप्रैल, 2001 को ब्यावर के सुभाष गार्डेन में सूचना के अधिकार का प्रथम सम्मेलन हुआ और इसके बैनर पर था–

'चोरीवाड़ो घणो होग्यो रे, कोई तो मुण्डे बोलो'

(लूट तो अब बहुत हो गई, कोई तो अपनी जुबान खोलो)

2002 में एक विधेयक पारित हुआ , जिसका नाम 'सूचना की स्वतंत्रता' का था। यह एक कमज़ोर अधिनियम था और इसे पारित नहीं किया गया। 2004 में सूचना के अधिकार के विधेयक को सदन में प्रस्तुत किया गया और जून2005 में विधेयक को राष्ट्रपति की मंजूरी प्राप्त हुई।

4.3 अन्ना आंदोलन

जन लोकपाल विधेयक की निर्मिति हेतु यह आंदोलन अपने अखिल भारतीय स्वरूप में5 अप्रैल 2011 को अन्ना हजारे और उनके सहयोगियों द्वारा जंतर-मंतर पर अनशन के साथ शुरू हुआ था। इसे जन लोकपाल विधेयक आंदोलन और भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन के नाम से भी जाना जाता है। यह भारत का राष्ट्र-व्यापी जनान्दोलन है, जिसके द्वारा देश में भ्रष्टाचार के विरुद्ध कठोर कानून बनाने की अपील की गई। इस आंदोलन में अन्ना के सहयोगियों में अरविंद केजरीवाल, भारत की पहली महिला प्रशासनिक अधिकारी किरण बेदी, प्रसिद्ध लोकधर्मी वकील प्रशांत भूषण, पतंजलि योगपीठ के संस्थापक और योग गुरु बाबा रामदेव प्रमुख थे। अन्ना हजारे का भ्रष्टाचार आंदोलन देश में भ्रष्टाचार पर बात करने वाला पहला आंदोलन नहीं है इसके पहले जय प्रकाश नारायण के आंदोलन में भी भ्रष्टाचार के मसले पर व्यापक तौर पर विमर्श छेड़ा जा चुका था, परंतु फिर भी यह आंदोलन देश में हुए अन्य आंदोलनों से अलग है। जय प्रकाश नारायण ने भी अपने आंदोलन में भ्रष्टाचार के मुद्दे पर बात की, परंतु इनके आंदोलन में भ्रष्टाचार का मुद्दा आंशिक रूप में था, परंतु अन्ना के आंदोलन में भ्रष्टाचार के मुद्दे को उस स्वरूप में पेश किया गया,जिस रूप में भ्रष्टाचार पर अभी तक किसी भी आंदोलन में बात नहीं की गई। एक लोकतांत्रिक राज्य के रूप में भ्रष्टाचार को भारत की शासकीय संस्थाओं और शासक वर्ग को सीधे तौर पर एक-दूसरे से अंतर्संबंधित करके देखा गया। भ्रष्टाचार का इतने वृहत पैमाने पर प्रसिद्ध होना इसलिए संभव हो सका , क्योंकि सूचना के अधिकार का प्रयोग और मीडिया द्वारा इस संदर्भ में सकारात्मक भूमिका का निर्वहन किया गया। सामाजिक खर्च और योजनाओं में घोटालों के उजागर होने के पीछे मनीष सिसोदिया और अरविंद केजरीवाल की संस्था परिवर्तन के कार्य है, जिसने इन घोटालों का पर्दाफाश करने में योगदान दिया।

संचार साधनों के विकास होने के कारण यह अनशन आसानी से पूरे भारत में फैल गया और धीरे-धीरे एक बड़ा जनसमूह इसके समर्थन में सड़कों पर उतर गया। इन्होंने भारत सरकार से एक मजबूत भ्रष्टाचार विरोधी लोकपाल विधेयक बनाने की अपील की और अपनी अपील के अनुसार सरकार को लोकपाल का एक मसौदा भी दिया था, परंतु मनमोहन सिंह के नेतृत्व वाली तत्कालीन कांग्रेसी सरकार ने इसके प्रति उदासीन रवैया अपनाया और इसकी उपेक्षा की। इसके फलस्वरूप हुए अनशन के प्रति भी तत्कालीन सरकार का रवैया उदासीन ही रहा। हालांकि इस अनशन के आंदोलन के रूप में परिणित होने पर सरकार ने शीघ्र ही एक समिति को निर्मित किया और 16 अगस्त तक लोक विधेयक को पास कराने की बात को संसद में स्वीकारोक्ति भी दे दी गई। अगस्त से आरंभ हुए मानसून सत्र में एक विधेयक को पारित किया गया , परंतु वह अपेक्षाकृत कमज़ोर था और लोकपाल के विपरीत था। अन्ना हजारे ने इसके विरोध में

पुनः अनशन पर बैठने की बात की और जब वे अनशन के लिए तैयार होकर जा रहे थे की तभी दिल्ली पुलिस ने अन्ना हजारे को गिरफ़्तार कर लिया। साथ-ही-साथ उनके कई सहयोगियों को भी गिरफ्तार कर लिया गया। सरकार की इस प्रवृत्ति से उद्वेलित जनता ने प्रदर्शन करने आरंभ कर दिए। अन्ना द्वारा मजिस्ट्रेट की बात न मानने पर उन्हें तिहाड़ जेल में सात दिनों के लिए भेज दिया गया। इस बात ने पूरे देश में आक्रोश पैदा कर दिया और फलतः अगले 12 दिनों तक देश में व्यापक स्तर पर धरना, प्रदर्शन और अनशन हुए। इन बातों से सरकार ने सशर्त अन्ना को रिहा करने का आदेश दिया, परंतु अन्ना ने उनकी शर्तों को मानने से साफ तौर पर मना कर दिया। इसके फलस्वरूप अन्ना ने जेल में ही अनशन जारी रखा और जेल के सामने हजारों लोग उनके समर्थन में डेरा डाले रहे। इसके बाद अन्ना को 15 दिनों के लिए रामलीला मैदान में अनशन हेतु अनुमति मिली। अन्नाने रामलीला मैदान में अनशन के दसवें दिन अपने अनशन को समाप्त करने के लिए सार्वजनिक रूप से तीन शर्तों को प्रस्तुत किया। ये तीन शर्तें थीं–

- सभी सरकारी कर्मचारियों को लोकपाल के दायरे में लाया जाए।
- सभी सरकारी कार्यालयों में एक नागरिक चार्टर लगाया जाए।
- सभी राज्यों में लोकायुक्त हों।

अंततः संसद द्वारा इन तीनों शर्तों पर सहमति का प्रस्ताव पास देने के बाद28 अगस्त को अन्ना ने अपना अनशन स्थगित करने की घोषणा की।

4.4 जनसत्याग्रह मार्च

यह एकता परिषद द्वारा चलाया गया एक अहिंसक पदयात्रा अभियान है, जो ग्वालियर से 2 अक्टूबर 2012 को आरंभ होकर 29 अक्टूबर 2012 को दिल्ली तक चलाया गया था और यह 350 किलोमीटर के पूरे सफर को तय करता है। जन सत्याग्रह गांधी द्वारा चलाए गए नमक सत्याग्रह(1930) पर आधारित है। जन सत्याग्रह मार्च अहिंसक रूप से कार्य करने वाले लोगों का एक अनुशासित संगठन है जो बड़े जनसमूह को संगठित करने का प्रयास है ताकि ग्रामीण भारत की कृषि और खाद्यान्न उत्पादन के महत्वों को उजागर किया जा सके, जो कि नगरीय भारत के भविष्य निर्माण हेतु आवश्यक है। इस जनसत्याग्रह को निम्न उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु चलाया गया था–

- एक व्यापक राष्ट्रीय भूमि सुधार अधिनियम और प्रभावी कार्यान्वयन व निगरानी के संस्थानों की व्यवस्था की जाए जो गरीब, भूमिहीन, बेघर और हाशिए के समुदायों के लिए भूमि और आजीविका के संसाधनों को पहुँच उपलब्ध करा सकें।
- गरीब भूमिहीन और बेघर (ग्रामीण और शहरी)के लिए भूमि फिर से वितरण की प्रक्रिया शुरू करने के लिए सभी उपलब्ध कानूनों, नीतियों (केंद्रीय कानूनों के साथ ही राज्य कानून) में व्यापक रूपरेखा तैयार करने की आवश्यकता है और समयबद्ध तरीके से कार्यान्वित करने की आवश्यकता है।

- भूमि से संबंधित मुद्दों पर केंद्र और राज्य सरकारों द्वारागठित विभिन्न समितियों द्वारा किए गए प्रगतिशील सिफारिशों (जिन्हें लंबित रखा गया है) को गंभीरता से लागू किया जाना चाहिए।
- एक कानूनी प्रावधान का निर्माण किया जाना चाहिए, जिसमें महिलाओं को पारिवारिक भूमि जोत के वितरण में बराबर का दर्जा दिया जाए और यह अगली योजना अवधि के भीतर किया जाना चाहिए। सरकार को यह लगातार सुनिश्चित करते रहना चाहिए कि महिलाओं को सारे लाभ मिले, जो एक किसान होने के नाते मिलते हैं। साथ-ही-साथ एकल महिलाओं को एक स्वतंत्र शीर्षक सुनिश्चित करने की प्राथमिकता दी जानी चाहिए।
- भूमि, जल, वन और खनिज जैसे प्राकृतिक संसाधन, जो किसी भी समूह के लिए जीवन निर्वाह का साधन उपलब्ध करते हैं, का बिना किसी पूर्व अनुमति/सूचना के अन्य प्रयोजन हेतु विनियोजन नहीं होना चाहिए और सहमति के पश्चात इसके प्रयोग हेतु एक वैयक्तिक अथवा सामुदायिक पट्टा व्यवस्था होनी चाहिए।
- प्रशासनिक और अन्य अधिकारियों द्वारा गरीबों के मूलभूत अधिकारों के हनन तथा भूमि, जल, वन और खनिजों से संबंधित संवैधानिक अधिकारों का कार्यान्वयन न किए जाने पर दंडात्मक कारवाई की जानी चाहिए।

8 अक्टूबर को एकता परिषद और तत्कालीन ग्रामीण विकास मंत्री जयराम रमेश के मध्यसमझौता हुआ, जिससे कि आगरा में मार्च को रोका गया। इस सत्याग्रह के परिणामस्वरूप दो बातों पर अमल करने का आश्वासन दिया गया–

- अगले छः महीनों के अंदर राष्ट्रीय भूमि सुधार नीति का एक मसौदा पेश किया जाएगा और शीघ्र ही उसे अंतिम रूप दिया जाएगा।
- भूमिहीन लोगों को कृषि हेतु भूमि उपलब्ध कराने और बेघर लोगों को उनके राज्यक्षेत्र में आवास उपलब्ध कराने का कानूनी प्रावधान बनाया जाएगा।

4.5 सारांश

इस इकाई के अंतर्गत समसामयिक परिप्रेक्ष्य के आंदोलनों की रूपरेखा को प्रस्तुत किया गया है जिसमें सूचना का अधिकार आंदोलन, अन्ना आंदोलन और जनसत्याग्रह मार्च पर फोकस किया गया है।

4.6 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: सूचना के अधिकार आंदोलन को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2: अन्ना आंदोलन की सम्पूर्ण प्रक्रिया पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 3: जनसत्याग्रह मार्च की विवेचना कीजिए।

4.7 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

राजगढ़िया, व. एवं केजरीवाल, अ. (2007). *सूचना का अधिकार.* नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन

मील, स. (2013). *अन्ना से अरविंद तक.* दिल्ली: अनन्यप्रकाशन

ज्ञान शांति मैत्री